समवेत समर्पण

प्रि० चन्द्रदेव सिंह

श्री रामसागर शर्मा

डॉ० रमेशचन्द्र सिंह

परिकथन

डॉ० वचनदेव कुमार, एम० ए०, पीएच० डी० के साहित्य-शिक्षा-संस्कृति-विषयक इक्कीस निबंधों के इस सग्रह 'चिंतन के धागे' को पढने का निमत्रण हम आपको इसलिए देते हैं कि इसमें संकलित निबध न केवल असगृहीतपूर्व हैं बल्कि इनके स्थल अनधीतपूर्व भी।

आदि कवि के प्रयोगों से लेकर कबीर की अप्रस्तुत-योजना के नश्तरों, सूरदास के बाल-मनोविज्ञान के अप्रकाशित आधारों, तुलसीदास के समन्वयवाद की कला की परिधि तक आई परिणति, निराला की अहं-मुखर भक्ति एव दैन्य-युक्त प्रपत्ति, महादेवी के दीपक की नवल व्याप्ति, पंत की प्रकृति के वर्तमान, दिनकर की अप्सरा के सामयिक सत्य आदि अश्रुतपूर्व ऐसी विषय-वस्तुओं का इनमें उद्घाटन-विवेचन हुआ है जिनसे हिन्दी आलोचना की सम्भावनाओं में अनेक नए रोशनदान खुलेंगे और जिनसे प्रतिपाद्य के प्रति नया औत्सुक्य उमगेगा।

हिन्दी आलोचना को नव्यता और वैदुष्य को प्रतोक्ति करनेवाले इस ग्रन्थ में विचार अद्यतन शोधों से पमाणित और चिन्तन से गतिशील हैं। 'विनयपत्रिका का एक पद' की सागोपाग समीक्षा प्रस्तुत पुस्तक की सर्वागीणता का अनेकाकी साक्षी है।

आलोचना रचनात्मक इस अर्थ मे भी है कि वह शेष साहित्य-स्वरूप तरफ दृष्टि और भाषा का अनुसधान है और दृष्टि एव अभिव्यक्ति की परिपूर्णता आती है सश्लेषणगत समग्रता से। नई आन्वीक्षिकी और टटकी भाषा देने को प्रतिश्रुत इस पुस्तक के शिक्षा और सस्कृति-विषयक निबंधों की सार्थकता यहीं है।

नया मुहावरा यह है कि कृतिकार की समीक्षा ही विश्वास्य होती है और आप तो जानते ही होंगे कि वचनदेवजी नई कविता के मर्मज्ञ कवि हैं।

रीडर और अध्यक्ष,
हिन्दी-विभाग,
पटना कॉलेज, पटना
११-१२-६४

—केसरी कुमार

अनुक्रम

साहित्य-खंड पृष्ठ

शिक्षा-खंड

संस्कृति-खंड १२८

काव्यास्वाद के अवरोधक तत्त्व

साम्प्रत गद्य-युग में कविता का वर्त्तमान और भविष्य बहुत संकटाच्छन्न दीख रहे हैं। न प्रकाशक कविता की पुस्तक छापने को राजी होता है और न पाठक ही काव्याध्ययन के लिये उत्कण्ठित दीखता है। हाल ही में प्रकाशित एक सर्वेक्षण-सूचना में बतलाया गया है कि भारतवर्ष में बंगाली ही सर्वाधिक उपन्यास पढ़ते हैं। बंगाली-जैसा भाव-प्रवण पाठक भी, जिसे माइकेल मधुसूदन एवं रवि बाबू की कविताओं का चस्का लग गया है, आज एक प्रकार से कविताओं का 'बायकॉट' कर रहा है। कुछ ही समय पूर्व रायटर की एक सूचना छपी थी, जिसमें कहा गया है कि एक ही प्रतिशत फ्रांसीसियों ने कविता के पक्ष में अपने मत दिये थे। फ्रांसीसियों की कला प्रियता संसार में सुज्ञात है। किन्तु इन आँकड़ों या 'सूचनाओं' को उपस्थित कर मैं कोई विशेष निष्कर्ष नहीं निकालकर इतना ही कहना अलम् समझता हूँ कि इस विज्ञान युग में—भौतिक उपलब्धियों के प्रति सजग, चंचल युग में—कविता को अधिकाधिक संघर्ष करना पड़ता है। 'ए होप फॉर पोइट्री' नामक ग्रन्थ में सिसिल डे लेविस ने इसी प्रश्न को उठाया है। अपनी आन्तरिक ऊर्जा से कविता निराशा की कुज्झटिका चीरकर अपना मोहक प्रकाश फैलाती ही रहेगी—यह निस्सन्दिग्ध है।

कविता उच्च कोटि की हो, महान् हो, सारे गुणों से विभूषित हो, फिर भी योग्य पाठक या ग्राहक के अभाव में आस्वादकता खतरे में रहती है। कहा गया है:—

> कवि करोति काव्यानि रस जानन्ति पण्डिता
>
> कन्यासुरतचातुर्यं जामाता वेत्ति नो पिता।

काव्यास्वाद में अवरोध उत्पादक तथा ग्राहक—दोनों पक्षों से संभव है। उत्पादक अर्थात् कवि के पक्ष में ये बातें कही जा सकती हैं:—

१. अपने कथ्य में वह स्वयं स्पष्ट नहीं है।

२ कुछ ऐसे वैयक्तिक कारण हैं, जिनके कारण कवि कथमपि अपने को वक्रिमा के साथ व्यक्त कर सका है। यही उसके लिये गनीमत समझिये।[१]

---

१ विशेष Difficult Poetry—T. S Eliot का निबन्ध देखें।

३ वैलक्षण्य-प्रदर्शन के उसके मोह ने कविता में इतनी जटिल ग्रन्थियाँ रख दी हैं कि लाख सर खुजलाने पर भी प्याज का छिलका ही हाथ लगता है।

४. कवि इस फन में उस्ताद नहीं है कि वह अपनी कविता में कुछ ऐसा प्रलोभन दे कि वह पाठकों को उभलाकर कविता की समाप्ति तक शान्त रखे। जैसे कोई चतुर चोर द्वार के कुत्ते को मधुर मांस का टुकड़ा उपन्त करता है।

किन्तु इस निबन्ध में ग्राहक-पक्ष को मैंने अपने समक्ष रखा है। काव्यास्वाद के पथ में अनेकानेक प्रत्यूह हैं, जिनकी ओर अँगरेजी साहित्यालोचन के दुर्धर्ष पण्डित आई० ए० रिचर्ड्‌स ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है —

१ कविता के सरलार्थ ग्रहण करने में कठिनाई, २ असफल इन्द्रिय-बोध, ३ असफल चाक्षुष बिम्ब-विधान, ४ असम्बद्ध अवान्तरताएँ, ५ पूर्वनिश्चित प्रतिक्रियाएँ (Stock Response), ६ भावुकता (Sentimentality), ७. निषेध (Inhibition), ८ सैद्धान्तिक आसक्ति (Doctrinal adhesions), ९. *शिल्प विषयक पूर्वाग्रह (Technical pre-suppositions)* और १०. सामान्य आलोचनात्मक पूर्वधारणाएँ (General criticism)

किन्तु हम इस विषय को इतने विचार बिन्दुओं में न उलझाकर तीन मोटे विभागों के अन्तर्गत रखते हैं —

१ समुचित शिक्षा एवं सुसंस्कृत रुचि का अभाव, २. वाद या सम्प्रदाय विशेष के आग्रह के कारण कवि के प्रति सहानुभूति का अभाव और ३. परिश्रम से पलायन।

साहित्य की सभी विधाओं में सर्वाधिक अधीत पाठक काव्य के लिए ही अभीप्सित है। उसे काव्यशास्त्र अर्थात् अपार शब्दभेद, भावभेद, रसभेद, अलंकार-भेद, गुणभेद, दोषभेद, छन्दभेदादि का ज्ञान होना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसके लिए सकल शास्त्रों का सामान्य ज्ञान अपेक्षित है, भले ही वह विष्णु शर्मा की तरह सकल शास्त्रों का पारगत न हो। क्या भारतीय दर्शन की पूर्वपीठिका के बिना सूर, तुलसी, प्रसाद एवं निराला की कविताओं का आस्वादन सम्भव है? मनोविश्लेषण शास्त्र की सम्यक् अभिज्ञता के बिना क्या बायरन, लॉरेन्स, इलियट, कमिंग्स या मान के काव्य का मर्मोद्‌घाटन सम्भव है?

किन्तु पाठक के सुशिक्षित रहने पर भी काव्य-बोध के संस्कार के बिना सब गुड़ गोबर है। कला के रस-ग्रहण का संस्कार तो जन्मजात ईश्वरीय वरदान

है और शिक्षा आयास-लब्ध वैयक्तिक उपलब्धि। प्रसिद्ध भारतीय काव्यशास्त्री मम्मटाचार्य ने जो कवित्वशक्ति के उद्भव के कारण शक्ति, लोक-निरीक्षण और अभ्यास माने हैं, वे काव्य-पाठक के लिये भी अनिवार्य तत्त्व ही हैं। शक्ति और लोक-निरीक्षण और कुछ नहीं, सिर्फ संस्कार या प्रतिभा तथा शिक्षा के ही पर्याय कहे जा सकते हैं।

जर्मन महाकवि गेटे ने काव्य-पाठक को भी कवि होना कहा है। कहने का तात्पर्य यह कि कवि और पाठक, उत्पादक और ग्राहक को सम धरातल पर स्थित होना चाहिये। काव्यास्वाद के समय पाठक के कवि होने का अर्थ उसकी कारयित्री प्रतिभी नहीं, वरन् भावयित्री प्रतिभा ही है। कवि सदा यही चाहता रहा कि विधाता और जो कुछ चाहे, उसके भाग्य में लिख दे, किन्तु अरसिक से काव्य-निवेदन हरगिज नहीं। कवि शंकर ने निम्नलिखित पद में कवियों की यही मनोव्यथा व्यक्त की है :—

भरिबो है समुद्र को सम्बुक में
छिति को छिगुनी पर धारिबो है
बाँधिबो है मृणाल सो मत्त करी
जुही फूल सो शैल बिदारिबो है।
गनिबो है सितारन को कवि शंकर
रेणु से तैल निकारिबो है
कविता समुझाइबो मूढ़न को
सविता गहि भूमि पै डारिबो है।

दूसरी मुख्य बात है पाठकों के पूर्वाग्रह की। कुछ व्यक्ति तो कविता देखकर इस प्रकार भागते हैं, जैसे उसके स्पर्शमात्र से उन्हें करेन्ट लग जायगा। ऐसे व्यक्तियों की चर्चा अनावश्यक है। किन्तु अधिकतर व्यक्ति ऐसे हैं, जो मतवाद, सम्प्रदाय, युग, राष्ट्र या भाषा विशेष की कविता के ही क्रीत दास बन चुके हैं। विशिष्टाद्वैत के प्रेमी अद्वैतवादी दर्शन से प्रभावित रचनाओं को हेय समझकर पढ़ना अस्वीकार कर देते हैं, मार्क्सवाद या अस्तित्ववाद के पक्षधर अरविन्द की अतिमानसवादी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर लिखी 'सावित्री' को दूर से ही दण्डवत् कर लेते हैं, फिर काव्यास्वाद की बात उठती ही कहाँ है? छायावाद के प्रशंसक पाठकों के लिए प्रगतिवादी रचनायें विघटित विश्लाग मानव के कुण्ठित अहम् का घृणय अभिव्यंजन दीखता है।

भक्तियुग की रचनाओं में आस्था रखनेवाला पाठक रीतियुग की रचनाओं को वासना का विजृम्भण घोषित करता है तथा विक्टोरियन युग के टेनीसन, आर्नल्ड, ब्राउनिंग की रचनाओं पर सौ-सौ जान से फिदा रहनेवाला पाठक बाद के कवियों की रचनाओं को 'डिकेडेन्ट' करार देता है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास एवं भवभूति का रसग्राही पाठक 'नाग्यग्र' कहकर शेक्सपीयर, पुश्किन, नेरुदा, रूमी तथा गालिब की रचनाओं को नकार देता है। हिन्दी या बंगला कविताओं के अत्यधिक आग्रही पाठक अपनी *कूपमण्डूकता, केन्द्रानुवर्तिता या मोहवर्तिता के कारण अन्य भाषाओं* की कविताओं को देखकर 'शान्तं पापम्, शान्तं पापम्' कह चिल्ला उठते हैं। उनकी दृष्टि में कबीर, निराला या रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं को पढ़ने के बाद अन्य भाषाओं की कवितायें पर्युषित एवं उच्छिष्ट-सी लगती हैं।

इस प्रकार किसी वाद, सिद्धान्त या भाषा विशेष से अनावश्यक रूप से चिपक जाने के कारण कविता के साथ न्याय नहीं हो सकता। नव्य वस्तु सर्वथा त्याज्य हो, ऐसा तो परप्रत्ययनेयबुद्धि ही सोच सकता है। नलिनविलोचन शर्मा की कुछ पंक्तियाँ उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य हैं :—

> बालू की ढूह हैं
> जैसे घिल्लियाँ सोई हुईं
> इनके पंजों से लहरें दौड़ भागतीं
> सूरज की खेती चर रहे मेघ मेमने
> विश्रब्ध, अचकित।

' अनन्त विस्तारवाले सागर के ऊपर छा जानेवाली सन्ध्या का बिम्बात्मक वर्णन कवि को अभिप्रेत है। सागर के पाद-प्रदेश पर अपार सिकताराशि अपनी श्वेतिमा लुटा रही है। इसलिये रजताभ सिकताराशि की ढूह को धवलवर्णी घिल्लियों जैसा वर्णित किया गया है। ऊपर आकाश से सूर्य प्रकाश तिरोहित होनेवाला ही है। लगता है कि सूरज की खेती को मेघ-मेमने निर्भीक-निश्चल होकर चर रहे हैं। अप्रस्तुतों की ऐसी पारदर्शी योजना एवं विषम रंगों (कॉन्ट्रास्ट कलर) का ऐसा समानुपातिक मिश्रण (प्रोपोर्शनल कम्बिनेशन) दुर्लभ होते हैं। पाठक अगर कविता के साथ बहाव में न बह जाय तो यह किसका दोष है, अन्तःकरण का या मस्तिष्क का ?

पाठक अभ्यस्त होकर किसी कवि की कविता को पढ़ने से ही मोहित का पता मान लेता है। ऐसे भी पाठक हैं, जो कविता की दो चार पंक्तियाँ पढ़कर अपने दिमाग का मोटर बदल देते हैं। कविता के लिए जैसे कवि को तपना पड़ता है, वैसे ही पाठक को थोड़ा बहुत तो कष्ट उठाना ही चाहिए। कविता कोई हलुआ नहीं,

जो होठ पर रखते ही हलक में उतर जाय। अपने कथन के समर्थन के लिए दो कवि-मनीषियों के उद्धरण आपके समक्ष हैं—

1. I know that some of the poetry to which I am most devoted is poetry which I did not understand at first reading; some is poetry which I am not sure I understand yet : for instance, Shakespeare's.

2. The proper method for studying poetry and good letters is the method of contemporary biologists, that is careful first hand examination of the matter, and continual comparison of one 'slide' or specimen with another.

आलोचना के क्षेत्र में यह शुभ लक्षण ही दीख रहा है कि पाठकों की रुचि को प्रशिक्षित-विकसित करने के हेतु काव्य-मर्म की अच्छी-अच्छी पुस्तकें निकल रही हैं; किन्तु इससे संस्कार उत्पन्न नहीं किया जा सकता, परिष्कार चाहे जितना हो। अतः काव्य का पाठक जबतक सुसंस्कृत, सुपठित-सुरसिक एवं वादविमुक्त नहीं होगा, तबतक वह काव्य के सुधारस के आकण्ठ-पान से वंचित ही रहेगा।

---

1. T. S. Eliot—Selected Prose—*Page 93*
2. Ezra Pound—A B C of Reading—*Page 17*

आदिकवि वाल्मीकि के प्रयोग

क्रौंचमिथुन में से एक की—नर की व्याध द्वारा हत्या होते देख आदिकवि वाल्मीकि का तीव्र शोक ही श्लोकवत् हो गया, ऐसा चिरज्ञात है। 'वाल्मीकि' अर्थात् वल्मीकवाला इतना संकेतित करता है कि घोर तपस्या के विघ्नस्तोम से ही महाकवि सुदीर्घ वर्षों तक आवृत रहे। साधना जब पूर्ण हुई तब उनका काव्य-स्रोत फूट पड़ा। प्रेरणा को पाथेय चाहिये, प्रतिभा और काव्यशक्ति को अनुकूल विषय चाहिये। सो, उसकी सपूर्ति कर नारद ने अपना अभिधेयार्थ सपुष्ट किया। ज्ञान के एक शलाके से अंतर्दृष्टि में ऐसा अमृतांजन लगा कि संपूर्ण रामचरित निकषोपल पर खचित कनक-रेखा की भाँति द्योतित हो उठा।

महाकवि की चतुर्विंशतिश्लोकी रामायण का इतना दीर्घपरिसर परिणाह है, इतने द्वार और वातायन हैं कि सबके सौंदर्य पर विस्मित रह जाना पड़ता है। महाकवि किस दृष्टि से सर्वाधिक वरेण्य हैं, इसका निर्णय संभव नहीं। प्रयोगवादी काव्य के जिन तत्त्वों ने पाठकों को अपनी ओर बलात् खींचा था, उनमें सर्वाधिक मानसिक विरेचन बिम्बविधान से ही होता है। प्रयोगवादी, तथाकथित प्रयोगवादी या प्रयोग-गंधी रचनाओं के कुछ उदाहरण निम्नोद्धृत हैं—

गुरिल्ला दल-सी
बही हवा दुर्धर्षा—प्रभाकर माचवे (तारसप्तक)
दिन धीवर के पारा-सा मैला—केसरी कुमार (नकेन)
बादल..... चुंबन के धब्बे से—नरेश (नकेन)

अन्य भारतीय भाषाओं की कविताओं से भी कुछ बानगी लें—

उपमा, रूपक, दीपक-नामक रीढ़ों का विकटनृत्य है,

कन्नड़—बी० एच० श्रीधर, भारतीय कविता, १९५३

पाप का अँधेरा बुझाने के लिए मन में
दया का घी डालकर
दीप जलाओ, मेरी साक्षी।

तमिल—सुरभि, भारतीय कविता १९५३

प्रकाश-रेखा के लिए तरसनेवाले
नाविक की भाँति मैं।   —तेलगु-तोड्डु बापिराजु, भा० क०
मेरे मनरूपी रंगमंच पर,
जिसमें कल्पना-सौरभ का
अंकुर धीरे-धीरे फूट उठा है।   —मलयालम, पी० कु० नायर, भा० क०
प्रयोजन नेई कविता स्निग्धता
कविता तोमाय दिलाम आज के छुटि
छुधार राज्ये पृथ्वी गद्यमय
पूर्णिमा चाँद जेन झलसानो रुटि।

—सुकान्त भट्टाचार्य
आधुनिक बंगला कविता

केवल भारतीय भाषाओं में ही ऐसे अटपटे बिम्ब नहीं मिलते, वरन् विश्व की सभी भाषाओं में, जो आधुनिक काव्य-संकलन प्रकाशित हुए हैं, ऐसी प्रवृत्ति देखी जा सकती है। ह्यूम को कभी चाँद ललमुँहा किसान और कभी बैलून-जैसा लगता है—

And saw the ruddy moon lean over a hedge like
a red-faced farmer.
I did not stop to speak, but nodded,
And round about were the wistful stars,
With faces like town children.   —*Autumn*

Above the quiet dock in midnight
Tangled in the tall mast's corded height
Hangs the moon. What seemed so far away
Is but a child's balloon
forgotten after play.

—*Above the Dock*

स्पेनिश कवि सिजर मेलेजो ने पृथ्वी को जीर्ण पासे के रूप में देखा है—
la Tierra
is un dado roidoy yaredondo.

Poetry of this Age. J. M. Cohen-220

इन देशी-विदेशी कविताओं के बिम्बों को देखने से ऐसी धारणा बँधती है कि इनका निर्माण कर कवि अपने पराक्रम का प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है। कुरूँये

कवियों की अकड़ से ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने कोई बाघ मार दिया हो या मूर्ख दर्शक-समुदाय पर जादुई छड़ी फेर दी हो। बहुतेरे बिम्बों में नावीन्य है किन्तु यह नावीन्य जुगुप्सा उत्पन्न करता है।

मुख चाँद की तरह है, चाँदनी, सरोवर या कमल की तरह, ऐसा कहना कवियों को रुचता नहीं। इन यातयाम उपमाओं को छोड़कर कवि कहना चाहता है कि किसी युवती का आनन मरकरी बल्ब, फ्लोरेसेंट लाइट या क्लब की नकली झील की तरह है। मजदूरिन की आँखें बेचारी लालटेन की तरह या सड़े टमाटर की तरह हैं। किन्तु इन चित्रों पर समय की धूल शीघ्र ही जम जाती है, सिनेमा के अच्छे-से अच्छे गीतों की तरह दो सप्ताह के भीतर ही अपनी फरमाइश खो देते हैं। परन्तु आदिकवि वाल्मीकि की बात ही निराली है। समय बीतता जाता है इन बिम्बों की चमक बढ़ती जाती है।

उदाहरणार्थ प्राचेतस् ऋषि के बिम्ब विधान के कतिपय स्थल उपस्थित हैं—

१ सन्ध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वधिकपाण्डरैः
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम्। —किष्किंधा, २८-२

आकाश ने सन्ध्या के लाल रंग से रंजित श्वेत किनारेवाले सचिक्कण मेघरूपी कपड़े के टुकड़ों से मानो अपने घावों पर पट्टियाँ बाँध रखी हैं।

२ मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः
मारुतापूरितगुहा प्राधीता इव पर्वताः। २८-१०

मारुतपूरित गुहावाले पर्वत, जो मेघरूपी कृष्ण मृगचर्म और धारारूपी यज्ञोपवीतधारी हैं, अध्येता की तरह प्रतीत होते हैं।

३ बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन॥ २८-२४

बीच-बीच में छोटी छोटी बीरबहूटियों से भरी हरी घास से इस पृथ्वी की शोभा वैसी हो रही है, जैसी कि लाल बूटेवाले हरे दुपट्टे ओढ़नेवाली स्त्री की होती है।

४ कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाढ्या
वनान्तभूमिर्नववारिपूर्णा।
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तै-
रापानभूमिप्रतिमा विभाति॥ २८-३१

इस वन की भूमि, जो कदम्ब, साल, अर्जुन और गुलाब के फूलों से परिपूर्ण है और नवीन जलरूपी मद्य से भरी है, मतवाले मोरों के नाचने से शराब की दूकान-सी मालूम पड़ती है।

५. नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः
सुरेन्द्रदत्तैः पवनोपनीतैः।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति॥ २८-४६

मनुष्य जिस प्रकार राजा को स्नान कराते हैं, उसी प्रकार वायु से प्रेरित, जल से भरे मेघरूपी घड़े से स्नान करके, पर्वतराज अपना रूप और शोभा दिखला रहे हैं।

६. कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरिव ताडितम्
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम्। २८-११

जैसे सोने के चाबुक के समान बिजली से पीटा जाकर आकाश दुःख से भीतर-ही-भीतर कराह रहा है।

७. रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते। अरण्य-१६-१३

जैसे मुँह की भाप से दर्पण धुँधला पड़ जाता है, वैसे ही चन्द्रमा भी, जिसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और मनोहरता सूर्यमंडल में चली गयी है, धुँधला जान पड़ता है।

८. एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः
न विगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम्, १६-२२

युद्ध के मैदान में कायरों की तरह जल में विहार करनेवाले ये पक्षी जल में डुबकियाँ नहीं मारते हैं, चुपचाप बैठे हैं।

९ स रामः पर्णशालायामासीनः सह सीतया
विरराज महाबाहुश्चित्रया चन्द्रमा इव। १७-४

पर्णशाला में सीता के साथ बैठे हुए महाबाहु रामचन्द्र वैसे ही शोभित होते थे, जैसे चित्रा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा शोभित होता है।

१०. अमी रुधिरधारास्तु विसृजन्त खरस्वनान्
व्योम्नि मेघा विवर्तन्ते परुषा गर्दभारुणाः। २४-४

गधे के समान जोरों से रेंकनेवाले और मटमैले रंगवाले बादल, आकाश में इधर-उधर दौड़कर रुधिर बरसा रहे हैं।

११. तस्य बाणान्तराद्रक्तं बहु सुस्राव फेनिलम्
गिरेः प्रस्रवणस्येव तोयधारापरिस्रवः। ३०-२१

उनके बाणों के घाव से फेनयुक्त रक्त की धारें उसी प्रकार बहने लगीं, जिस प्रकार पहाड़ी झरनों से पानी की धारें बहती हैं।

१२. अद्य हि त्वां मया मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः
विदार्य निपतिष्यन्ति वल्मीकमिव पन्नगाः। २८-११

आज ये सुवर्ण-भूषित मेरे छोड़े हुए बाण तेरे शरीर को चीरकर वैसे ही घुसेंगे, जैसे सर्प बाँबी में घुसता है।

१३. यथैव धेनुः स्रवति स्नेहाद्वत्सस्य वत्सला
तथा ममापि हृदयं मणिरत्नस्य दर्शनात्। सुन्दरकांड-६६-२

जैसे बछड़ों को देखने से वत्सला गाय के स्तनों से अपने-आप दूध टपकने लगता है, वैसे ही इस मणिश्रेष्ठ को देखने से मेरा मन ललच गया है।

१४. अरुणकिरणरक्ता दिग्बभौ चैव पूर्वा
कुसुमरसविमुक्तं वस्त्रमागुण्ठितेव। उत्तर २१-२३

कुसुंभी रंग की साड़ी पहने हुई स्त्री की तरह (चन्द्रोदय के पहले) पूर्व दिशा अरुण किरण से रँग गयी।

आदिकवि के इन बिंबों में जो स्वच्छता है, विशुद्ध गोत्व की मनोहारिणी गंध है, कटीली चम्पा की मदभरी सुवास है, सद्यःस्नाता गौराङ्गना का अङ्ग-लावण्य है, वह सहज ही दर्शनीय है। शुभ्र विशाल पर्वत की संधियों में पवन भर गया है। वर्षाकाल है, इसलिए काले-काले मेघ घिर गये हैं। कहीं-कहीं श्वेत सोत भी फूट पड़े हैं। काले मेघ मृगचर्म की तरह तथा जलधार यज्ञोपवीत की तरह मालूम पड़ता है। पवनोत्थित शब्द वेदध्वनि-जैसे मालूम पड़ते हैं। यहाँ पर कवि ने पर्वत को अध्ययनरत ब्रह्मचारी बनाकर और उसकी ग्रीवा में यज्ञोपवीत तथा कटिप्रदेश में मृगछाला डालकर बड़ा ही पवित्र बिम्ब उपस्थित किया है। भारतीय संस्कृति और ब्रह्मचर्याश्रम बिलकुल मूर्तिमान् हो उठे हैं।

इसी तरह वर्षागम के पश्चात् वसुन्धरा शाद्वलाच्छादित हो जाती है। जिधर दृष्टि डालिये, सर्वत्र हरीतिमा का संसार लहराता नजर आता है। बीच-बीच में रहनेवाली बीर-बहूटियाँ अपनी सुषमा लुटाती रहती हैं। महाकवि की कल्पना इसके बारे में कहती

है—"लगता है, लाल बूटेवाली हरी साड़ी में लिपटी पृथ्वी रूपी स्त्री हो।' इस कल्पना में कहीं भी तिरश्चीनता नहीं है, स्वाभाविक रूप से कल्पना और भावना का सम्मिलन हुआ है।

बिम्ब-विधान में तीन प्रकार से कल्पना कार्य करती है—

(१) उत्पादिका
(२) संयोजिका
(३) अवबोधिका

यदि उत्पादित उपादानों में कवि की संयोजिका कल्पना ने संयोजन नहीं किया तो सारे चित्र बिखरे-बिखरे-से लगेंगे। बिम्ब प्रायः खंडित। अतः उत्पादिका कल्पना को संयोजिका कल्पना का साहाय्य चाहिये। फिर यदि बिम्ब बने भी; किंतु उसका सम्यक् बोध संभव नहीं हो तो इसे सुन्दर कल्पना नहीं मानेंगे। महाकवि ने कल्पना का शीर्षासन न कराके भी, उसे जिस ढंग से उपस्थित किया है, वह विस्मयकारिणी है। कवि स्वयं चिन्तामुक्त है, वह बिम्बों के लिए सर्वदा तपस्यारत भी नहीं, बिम्ब ही उसे ढूँढते चलते हैं।[1]

समग्र रामायण में कथन को अधिकाधिक हृदयग्राही बनाने के लिए बिम्ब-योजना की गयी है। उसका उद्देश्य पाठकों को वाग्-वागुरा में उलझाना नहीं, वरन् इन आकर्षक अनाघ्रात बिम्बों के प्रलोभन द्वारा पाठकों को रामचरित्र की परिक्रमा कराना है।

सीतलता औ सुगंध की, महिमा घटी न मूर।
पीसनवारे ज्यों तज्यो, सोरा जानि कपूर॥

---

1. The poet does not always consciouly choose his image, the image may choose him.

Marjorie Boulton—The Anatomy of Poetry Page—133.

व्यास : काव्य और नीति के सेतुकर्त्ता

महाकवि व्यास 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' तथा 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' अद्यावधि प्रमाणित कर रहे हैं। महाभारत तो सचमुच एक भारी कारखाना है, जिससे अनेकानेक महाकाव्य निर्मित होते रहे हैं और रहेंगे। इस महावन की एक-एक डाली से कितनी वाटिकाएँ लहरी हैं। इसलिए इसे Epic within Epic कहा गया है। संस्कृत के वृहत्त्रयी इस ग्रन्थ की छोटी-छोटी घटनाओं का आश्रय लेकर काव्य-जगत् में अक्षय कीर्ति अर्जित कर चुके हैं। भारवि, माघ और श्रीहर्ष ही नहीं, बल्कि उनके पूर्ववर्ती भास और कालिदास तथा परवर्ती संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं भारत की अन्यान्य भाषाओं के अधिकांश काव्य व्यास के ही अधमर्ण हैं। महाभारत इतिहास, पुराण, दर्शन आदि की सम्मिलन-भूमि तो है ही, इससे बढ़कर साहित्य और नीति का सेतुबंध भी है।

साहित्य का व्युत्पत्तिलभ्यार्थ संहितवाला अर्थात् साथवाला या कल्याणवाला है। यदि साहित्य को क्षेमंकरी रचना मानें तो नीति का अध्याहार स्वतः सिद्ध है। यदि साहित्य को साथवाला मानें तो भी नीति उसके साथ नहीं हो, ऐसा कहना उचित नहीं होगा। नीति का धात्वर्थ भी 'ले चलना' है। नीति मानव-जीवन को आगे बढ़ाती है, केवल एक दिशा में नहीं; वरन् सभी दिशाओं में। आध्यात्मिक, भौतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि दिशायें हो सकती हैं। साहित्य और नीति का संबंध वाञ्छनीय है या नहीं—इस गड़े मुर्दे को उखाड़ना ठीक नहीं। मम्मट, विश्वनाथ, हिरोक्लिटस, डिमोक्रिटस, अरस्तू, बेंथम, मैटले, आरनल्ड, टाल्सटाय, हर्जन, बेलिन्स्की, चर्नीशेवस्की, गाँधी, प्रेमचंद, रामचंद्रशुक्ल के आलोचन-लेखों के पन्नाफेर पाठक भी अच्छी तरह जानते हैं कि कविता केवल मनोरंजन नहीं करती, आनन्द प्रदान ही नहीं करती; वरन् वह सत्पथ की ओर भी अग्रसर करती है। साहित्य में यदि जीवन निर्माणात्मक तत्त्वों का समावेश नहीं हो सका तो वह साहित्य नहीं, वरन् राहित्य है। साहित्य सचमुच दर्पण है, जिसमें हम अपनी बाँकी छटा भी निहारते हैं और अपनी विकृति भी सुधारते हैं।[1]

काव्य और नीति के संबंध इस प्रकार हो सकते हैं—

(१) विशुद्ध काव्य :—मेघदूत, ऋतुसंहार, गीतगोविंद आदि

(२) विशुद्ध नीति-काव्य—चाणक्यनीति, विदुरनीति, शुक्रनीति आदि
(३) काव्य-नीति मिश्रित—ऐसी रचना में कवि उपदेश की कड़वी गोलियों को मधुर अवलेह के साथ उपस्थित करता है।

नीतियों के भी कई भेद किये जा सकते हैं —

(१) चरित्र-निर्माणात्मक
(२) कर्त्तव्य-निर्धारणात्मक
(३) सामाजिक, पारिवारिक एव विश्वबंधुत्व-संबंधित
(४) आध्यात्मिक (धर्म, ईश्वर, परलोक, मोक्ष आदि से संबंधित),

महाभारत में सभी प्रकार की नीतियाँ भरी पड़ी हैं।

महाभारत सूक्तियों का आगार है। आदिपर्व से स्वर्गारोहणपर्व तक सहस्राधिक सूक्तियाँ हैं। (आदिपर्व के देवयानी शुक्राचार्य-प्रसंग के अन्तर्गत यह सूक्ति है कि अधर्म का फल तुरंत नहीं मिलता है। धरती को जोत बोकर बीज डालने के कुछ समय बाद पौधा उगता है और यथासमय फल देता है, उसी प्रकार अधर्म धीरे-धीरे कर्त्ता की जड़ काट देता है। यदि पाप से उपार्जित द्रव्य का कुपरिणाम उसके ऊपर नहीं दिखाई दिया, तो उसका दुष्परिणाम उसके पुत्रों तथा नाती पोतों पर अवश्य प्रकट होता है। जिस तरह गरिष्ठ अन्न यदि तुरत नहीं तो कुछ देर बाद अवश्य उदर में उपद्रव करता है, उसी तरह किया हुआ पाप निश्चय ही अपना फल देता है।

पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरु भुक्तमिवोदरे।

—आदिपर्व (सम्भव) ८० अध्याय ३

इसी पर्व के अन्तर्गत ययाति ने कहा है कि दुष्ट मनुष्य के मुख से सदा वचन-बाण निकलते रहते हैं, जिनसे कितने ही मनुष्य मर्माहत होकर रात्रिदिव शोकमग्न रहते हैं। अतः विद्वान् पुरुष को दूसरे के प्रति कटुवचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

---

1 The end of writing is to instruct, the end of poetry is to instruct by pleasing —*S Johnson Preface to Shakespeare*

2 Poetry is to teach, to please or to do both— —*Horace*

3 Poetry is an art of imitation, with the end to teach and delight —*P. Sidney · Apology for Poetry*

4 केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए। —मैथिलीशरण गुप्त

वाक्यसायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहत शोचति राञ्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु।

—आदिपर्व-सम्भवपर्व ८७ ११

वनपर्व में युधिष्ठिर का द्रौपदी के प्रति नीतिवचन है—जो केवल अर्थ संग्रह की इच्छा रखता है, एव काम का अनुष्ठान नहीं करता, वह ब्रह्म हत्यारे की तरह घृणा का पात्र है।

अतिवेलं हि योऽर्थार्थी नेतरावनुतिष्ठति
स वध्य सर्वभूताना ब्रह्महेव जुगुप्सित

—अर्जुनाभिगमन पर्व ३३ २८

पुन वे कहते हैं कि कल्याणमयी महारानी द्रौपदी! तुम्हें मूर्खतापूर्ण मन से ईश्वर एव धर्म पर आक्षेप एव आशङ्का नहीं करनी चाहिये। धर्म में पूर्ण आस्था रखनेवाला तथा अनन्यभाव से उसकी शरण में जानेवाला परलोक में अनन्त सुख का भागी होता है अर्थात् परमात्मा को प्राप्त करता है—

अतो नार्हसि कल्याणि धातारं धर्ममेव च
राज्ञि मूढेन मनसा क्षेप्तु' शङ्कितुमेव च
यस्य नित्य कृतमतिर्धर्ममेवाभिपद्यते
अशङ्कमाम कल्याणि सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते।

अर्जुनाभिगमन ३१-१९।२०

वनपर्व के अतर्गत आरणेयपर्व में यक्ष न युधिष्ठिर के सामने प्रश्नों की झड़ी ही उपस्थित कर दी है। चार भाई तो उत्तर नहीं दे सकने के कारण मृत्यु प्राप्त कर चुके हैं। यक्ष पूछता है—

को मोदते किमाश्चर्यं क' पन्था का च वार्तिका
ममैतांश्चतुर प्रश्नान् कथयित्वा जल पिब।

अर्थात् सुखी कौन है? आश्चर्य क्या है! मार्ग क्या है? और वार्ता क्या है। और इन चार प्रश्नों के उत्तर देकर जल पीओ।

युधिष्ठिर कहते हैं—

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर! मोदते॥
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषा स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमित' परम्॥

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गत: स पन्था. ॥
अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि काल पचतीति वार्ता ॥ ११६-११८

अर्थात् हे यक्ष ! जिस पुरुष पर ऋण नहीं है और जो परदेश में नहीं है, वह भले ही पाँचवें या छठे दिन अपने घर के भीतर साग-पात ही पकाकर खाता है, तो भी वही सुखी है।

संसार से रोज-रोज प्राणी यमलोक में जा रहे हैं; किंतु जो बचे हुए हैं, वे सर्वदा जीते रहने की इच्छा करते हैं। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा ? तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न भिन्न हैं, एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ है। अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।

इस महामोह रूपी कड़ाह में भगवान् काल समस्त प्राणियों को मास और ऋतुरूपी करछी से उलट-पुलट कर सूर्यरूप अग्नि और रात-दिन रूप ईंधन के द्वारा रौंध रहे हैं। यही वार्त्ता है।

उद्योगपर्व के प्रजागर-पर्व के ३३ वें अध्याय से ४० वें अध्याय तक विदुर-नीति है। सुखी और दुःखी की विदुरप्रदत्त परिभाषा देखें—

आरोग्य मानृण्यमविप्रवासः
सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोग ।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवास
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥

अर्थात् राजन् ! नीरोग रहना, ऋणी न होना, परदेश में न रहना, अच्छे लोगों के साथ मेल होना, अपनी शक्ति से जीविका चलाना और निर्भय होकर रहना ये छह मनुष्यलोक के सुख हैं।   (३३-८६)

ईर्ष्यी घृणी न संतुष्टः क्रोधनो नित्य शङ्कित
पर भाग्योपजीवी च षडेते नित्यदु:खिता: ।

अर्थात् ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असंतोषी, क्रोधी, सदा शङ्कित रहनेवाला और दूसरे के भाग्य पर जीवननिर्वाह करनेवाला—ये छह सदा दुःखी रहते हैं। (३३-६०)

यो मोद्दनं कुरुते जातु वेषं
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान्।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनोहि।

समग्र संसार को अपने गुणों से मोह लेने का कितना सरल उपाय है। उद्दण्ड वेष नहीं धारण करना, दूसरों के सामने अपने पराक्रम की श्लाघा नहीं करना, क्रोध से व्याकुल होने पर भी कटुवचन नहीं बोलना सबके हृदय को जीत लेने की कुंजी है।

धर्मविषयक नीतिवचन के उपरान्त शांतिपर्व के आपद्धर्मपर्व में जीर्ण शीर्ण शिराओं में भी मकरध्वज की ऊष्मा प्रदान करनेवाले पूजनीं के वचन इस प्रकार हैं। दैव और पुरुषार्थ दोनों एक दूसरे के सहारे चलते हैं, किन्तु उदार विचार वाले पुरुष सर्वदा शुभ कर्म करते हैं और नपुंसक दैव के भरोसे हाथ पर हाथ धरे रहते हैं। मनुष्य को कठोर या कोमल—कर्म ही करते रहना चाहिये। जो कर्मों का त्याग करता है, वह निर्धन होकर दुःख भोगता है। मनुष्य को काल, दैव और स्वभाव का भरोसा छोड़कर पराक्रम ही करना चाहिये। मनुष्य अपने सर्वस्व की बाजी लगाकर अपने हित का साधन करे। विद्या, शूरता, दक्षता, बल और धैर्य—ये पाँच मनुष्य के स्वाभाविक मित्र हैं। विद्वान् पुरुष इनके द्वारा ही इस जगत् में सारे कार्य करते हैं—

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्य संश्रयात्
उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीवा उपासते।
कर्म चात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु
ग्रस्यतेऽकर्मशीलस्तु सदानर्थैरकिञ्चन
तस्मात् सर्वं व्यपोह्यार्थं कार्यं एव पराक्रम
विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम्
सर्वस्वमपि संत्यज्य कार्यमात्महितं नरैः।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह तैर्बुधाः ८८-८६

पुरुषार्थ की महिमा का कीर्तन अनुशासन-पर्व के दानधर्म पर्व में भी हुआ है। ब्रह्मा ने युधिष्ठिर से कहा—जैसे बीज खेत में बोये बिना फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार दैव भी पुरुषार्थ के बिना नहीं सिद्ध होता। अपना कर्म सदा भोगा जाता है। शुभ कर्म करने से सुख तथा अधम कर्म करने से दुःख मिलता है। जो पुरुषार्थ नहीं

करते वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी का भी उपभोग नहीं करते।

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति।
शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्।
अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः।

शांतिपर्व के मोक्षधर्मपर्व में नारद की उक्तियाँ बड़ी ही ज्ञानप्रद हैं। विद्या के समान कोई नेत्र नहीं, सत्य के समान कोई तप नहीं, राग के समान कोई दुःख नहीं और त्याग के सदृश कोई सुख नहीं।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तप.
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्। ६

सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ है, परन्तु सत्य से भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना। हितकारक वचन ही सत्य है।

सत्यस्य वचनं श्रेय सत्यादपि हितं वदेत्
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मत मम। १३

पुन वे कहते हैं कि जो बीती बात के लिए शोक करता है उसे अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति नहीं होती है। मनुष्य उसके अभाव का अनुभव कर केवल दुःख उठाता है, उससे अभाव तो दूर होता नहीं। दुःख दूर करने की सर्वोत्तम दवा है उसका चिन्तन न किया जाय।

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते, ३३०-७
× × ×
भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते। ३३०-१२

धनसंग्रह और संतोष के विषय में नारद की धारणा है कि धन के व्यय में दुःख, आय में दुःख तथा उसकी रक्षा में दुःख। अतः धन को प्रत्येक अवस्था में दुःखदायी समझकर उसके नाश पर चिन्ता नहीं करनी चाहिये। तृष्णा का कभी अंत नहीं होता, संतोष ही परम सुख है, अतः पण्डितजन इस लोक में संतोष को ही उत्तम धन समझते हैं। मनुष्य अपने को नियंत्रण में रखकर ही महान् हो सकता है। वह धैर्य

के द्वारा शिश्न और उदर की, नेत्र द्वारा हाथ और पाँव की, मन द्वारा आँख और कान की तथा सद्विद्या द्वारा मन और वाणी की रक्षा करे।

त्यजन्ते दुःखमर्था हि पालनेन न च ते सुखा।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत्॥
अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः॥
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया॥ २२०-१८,२१,२८

महाभारत के अंत में प्रातःस्मरणीय उपदेश "भारत सावित्री" के नाम से विख्यात है। कवि दोनों हाथ ऊपर उठा उठाकर, चिल्ला चिल्लाकर कहता है; किन्तु अफसोस है कि उसकी बातें कोई सुनता नहीं। धर्म से मोक्ष मिलता ही है, अर्थ और काम की भी प्राप्ति होती है, किन्तु फिर भी लोग इसका सेवन क्यों नहीं करते? कामना से, भय से, लोभ से अथवा प्राण बचाने के लिए भी धर्म का त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य, इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उसके बन्धन का कारण अनित्य।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।

× × ×

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।

इस तरह हम देखते हैं कि महाभारत में व्यास ने लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस् के लिए बड़ी ही विलक्षण युक्तियाँ बतलायी हैं। ऐसे ज्ञाननिधि नीतिनिपुण महापुरुष की प्रतिभा के सामने समग्र संसार इसीलिए तो नतमस्तक रहा है।[1]

---

1. In one department of literature, that of aphorism (gnomic poetry), the Indians have attained a mastery which has never been gained by any other nation.

—*Winter Nitz—A History of Indian Literature, Vol I.*

कालिदास का सौंदर्य-वर्णन

कालिदास सौम्य शृंगार के अप्रतिम कवि हैं। शृंगार रस की निष्पत्ति के लिए रति स्थायी भाव अपेक्षित है अर्थात् प्रिय प्रेयसी का प्रेम अनिवार्य है। सौंदर्य के सरोवर में ही प्रेम का सरसिज खिलता है। किन्तु यह सौंदर्य कौन सा वरदान या अभिशाप है, कहना कठिन है। क्या अवयव का दृढ मांसपेशियों का आनुपातिक संगठन ही सौंदर्य है या सौंदर्य किसी अन्य पदार्थ पर समाश्रित है?

पुन यह प्रश्न उठता है कि सौंदर्य विषयगत या विषयीगत? विषयगत सौंदर्य इस प्रकार परिभाषित किया जाता है—जिसमें रमणीयता एव मधुरता हो। क्षण क्षण उत्पन्न होनेवाली नवता रमणीयता है[1] तथा चित्त को द्रवीभूत करनेवाला आह्लाद ही मधुरता है।[2] विषयीगत सौंदर्य देश, काल और पात्रभेद से परिवर्त्तनशील है। ऐसा सौंदर्य विशेष पात्र के लिय विशेष स्थान पर विशेष पात्र में मानसिक प्रतीति मात्र है। पुत्रनिधन के समय कुसुमित पाटल गुच्छ सुन्दर नहीं लगते, नि स्वन एकांत में प्रेयसी के साथ प्रेमालाप के समय अत्यन्त प्रियजन की उपस्थिति भी असुन्दर लग सकती है, अत कविवर बिहारी ने ठीक ही कहा है कि समय-समय पर सब सुन्दर है, रूप कुरूप नाम की कोई चीज नहीं। मन की रुचि जिस वस्तु में जिस समय है, वही उस समय सुन्दर है।[3] कॉलरिज[4] भी रमणी में वही पाता है, जो उसे दे पाता है। अत यहाँ सौंदर्य द्रष्टा की दृष्टि का कमाल है, न कि वस्तु की महत्ता।

अत जो पूर्वाग्रह ग्रस्त अतिरेकवादी नहीं है, वह सौंदर्य नयनरंजक बाह्य रूप में भी मानेगा तथा भावनात्मक सश्लेष में भी।

कालिदास ने समग्र रचनाओं में अपनी नायिकाओं का बड़ा ही चित्ताकर्षक सौंदर्य उपस्थित किया है। रघुवश में पानी की भँवर के समान गहरी नाभिवाली

---

१ क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया —शिशुपालवध

२ चित्तद्रवीभावमयाऽऽह्लादो माधुर्यमुच्यते—साहित्यदर्पण

३ समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न काय
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय—बिहारी

४. O lady ! we recieve but what we give—कॉलरिज

इन्दुमती जब स्वयंवरसभा में निकलती है, तो सभी राजाओं के अंतस्तल में तूफान उठ खड़ा होता है, उसका वर्णन कैसे संभव है? राजाओं ने अपने भ्रूसंचालन रूपी दूतियों के द्वारा इन्दुमती तक अपना प्रेमोपहार भेजना चाहा था, किन्तु सब निष्फल हुआ। गोरोचन की तरह गोरी, अरालकेशी, करभजघना इन्दुमती ने रघुपुत्र अज की ग्रीवा में माला डाल दी। यह मिलन वैसा ही हुआ जैसा चन्द्र और चन्द्रिका का या सागर और गंगा का।

शशिनमुपगतेयं कौमुदीमेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा

घुँघराले काले बाल या हाथी की सूँड के समान मोटी जाँघों से इन्दुमती के स्थूल सौंदर्य का आभास भले मिलता हो, किन्तु अगजग को आच्छादित कर लेने वाली चाँदनी तथा श्वेत शुभ्र ऊर्मियोंवाली शंकर के जटाजूट में विलास करने वाली, शापित सगर तनयों को उद्धार करनेवाली भागीरथी से इन्दुमती को उपमित कर कवि ने सौंदर्य का बड़ा पवित्र एवं उदात्त रूप हमारे समक्ष रखा है। ऐसा सौंदर्य कितनी वर्णानी शीतलता तथा उशीरगंध उडेलता है, सहज अनुभववेद्य है। यह रूपनिधान जबतक किसी को अपने प्रेमामृत से सींचता रहेगा, तबतक किसी को किसी प्रकार की चिंता क्यों व्यापे? ऐसे रूप की कोमलता और सुकुमारता का क्या कहना? इसलिए जब नारद की वीणा से कोमल कुसुमहार भी इन्दुमती के वक्षस्थल पर गिरा तो वह वासववज्र ही सिद्ध हुआ। ऐसे सौंदर्य की अमृतछायिनीलता के उच्छिन्न होते ही उसके आश्रय में पलनेवाला अज भी अकालकालकवलित हो गया।

कुमारसंभव में कालिदास ने अनन्यतम कामरिपु प्रलयंकर शंकर को मोहित करने के लिए हिमवानपुत्री पार्वती का बड़ा ही सुन्दर रूप उपस्थित किया है। बचपन के बाद जब उनके अंगों में यौवन फूट पड़ा तो बिना मदिरा पिये हुए ही मन को मतवाला बनानेवाला हो उठा। जैसे कूँची से ठीक-ठीक रंग भरने पर चित्र खिल उठता है, सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही कमल का फूल विहँस उठता है, उसी तरह नवयौवन पाकर पार्वती का शरीर भी खिल उठा। जब वे पृथ्वी पर पाँव रखती थीं तो उनके निसर्गप्रदत्त कोमल पदनखों से विस्फुरित प्रभा को देखकर ऐसा लगता था मानो वे पाँव अरुणिमा उगल रहे हों और जब वे दोनों चरणों को उठा-उठाकर चलतीं तो ऐसा मालूम होता था कि स्थल-कमल उगा रही हों।

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम्
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन।

अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् १ ३२,३३

उनके समूचे शरीर को सुन्दर बनाने के लिये ब्रह्मा ने सुन्दरता की जितनी सामग्रियाँ इकट्ठी की थीं, वे तो सब उनकी उतार चढ़ाववाली, गोल और ठीक मोटाईवाली जाँघों के बनाने में ही समाप्त हो गयी; इसलिये अंगों को बनाने के लिए सुन्दरता की और सामग्रियों को जुटाने में बेचारे ब्रह्माजी को बड़ा भीषण कष्ट उठाना पड़ा।

वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः। १-३५

पार्वती की पीन जाँघों के बनाने में सारी एकत्र सामग्री खर्च हो गयी तो उसकी उपमा कर्कश नागेन्द्रहस्त तथा शैत्यपूर्ण कदली स्तम्भ से कैसे दी जा सकती है। अन्य कमनीय नारियों की लालसा के परे स्वयं शङ्कर की गोद में विराजने वाली पार्वती के नितंब की सुन्दरता का क्या कहना? इसी तरह कमल से भी अभिराम आँखोंवाली, शिरीषसुमन से भी सुकुमार बाँहोंवाली, मीठी बोली से कोयल की काकली को निरस्त करनेवाली तथा अमृत की वर्षा करनेवाली, लाल होठों पर फैली मुस्कुराहट से स्वच्छ मार्ग के बीच में मोती की चमक उत्पन्न करनेवाली तथा अपनी वंकिम भौंहों से कामदेव के पुष्पधनु के घमण्ड को चूर चूर करनेवाली पार्वती ब्रह्माण्ड की समग्र सुन्दरता का एक स्थान में समानुपातिक संयोग थी। इसलिये महाकवि ने कहा कि संसारनिर्माता ब्रह्मा पृथ्वी की सारी सुन्दरता एक साथ देखना चाहते थे। इसलिये तो उन्होंने नयनरंजक अंगों की उपमा में आनेवाली तमाम वस्तुओं को बड़े जतन से बटोरकर उन्हें सब अंगों पर यथास्थान कुशलतापूर्वक सजाकर सुन्दरता की अद्भुत भास्वर मूर्त्ति पार्वती का निर्माण किया।

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव। —१ ४९

कालिदास ने प्रकृति की अनुकृति कर केवल उसके सुन्दर सुन्दर पदार्थों से ही पार्वती की सृष्टि नहीं की, वरन् उससे भी अतिशायी सौंदर्यसृष्टि कर डाली।[1] सौंदर्य के तीन तत्त्वों में—उपकरण (material), रूप (form) तथा अभिव्यक्ति

---

[1] Man creates more adequate forms of beauty than he finds already existing in the world about him. Art is superior to Nature
—हेगेल

(expression)—तीनों की सम्यक् स्थिति कालिदास के सौंदर्य-वर्णन में दर्शनीय है।

कालिदास ने पार्वती के अपरूप रूप की रचना में उसके सारे तत्त्वों पर ध्यान रखा है। सौंदर्यशास्त्र के अनुसार रूप के चार तत्त्व मुख्यतया मालूम पड़ते हैं—(१) सापेक्षता (Proportion), (२) समता (Symmetry), (३) संगति (Harmony) और (४) सन्तुलन (Balance)।

पार्वती के रूपनिर्माण के हेतु न मालूम कहाँ-कहाँ से विलक्षण उपकरण जुटाये। अनाड़ी कलाकार की भाँति उसे जहाँ-तहाँ थोपकर मिट्टी का लौंदा नहीं बना दिया, बल्कि कुशल उत्कीर्णकर्ता की तरह एक-एक पदार्थ की सापेक्षता, समता, संगति और संतुलन का सूक्ष्म विचार करते हुये ऐसा नियोजन किया कि काम को भस्मीभूत करनेवाले, कामिनी छाया से दूर भागनेवाले शंकर शिवा की रूपकारा के आजीवन वंदी बन गये।

मेघदूत में बेचारे हतभागे यक्ष की इससे कोई खास अच्छी स्थिति नहीं है। यक्षेश्वर कुबेर ने यक्ष को किस कारण से वर्षभर पत्नी से अलग रहने का शाप-दंड दिया—इसके बारे में दो धारणायें हैं। पहली यह कि कुबेर ने यक्ष को अपना उद्यानपाल नियुक्त किया था। पत्नीभक्त होने के कारण उसने अपना कार्य ठीक से नहीं किया। एक दिन ऐरावत आया और कुबेर के उपवन को नष्ट कर दिया। इसी पर उसे शाप दिया गया। दूसरी धारणा यह है कि कमल के ताजे टटके फूल लाने के लिए यक्ष प्रतिदिन सवेरे मानसरोवर जाया करता था। पत्नी को अखरता था कि आधीरात में जब प्रेमालाप अपनी मस्ती पर हो तो उसका प्रियतम उसे आश्लेषपाश से झटक-कर दूर चला जाय। इसीलिए वह दिन ही में फूल तोड़कर रख देता था और दूसरे दिन प्रातःकाल कुबेर को पहुँचा देता था। एक दिन भौंरे ने कुबेर की उँगली में डंक मार दी और वह शापित हुआ। किंतु मेरी तो दृढ़ धारणा है कि उसे अपनी प्रियतमा के अंग-प्रत्यंग के सौंदर्य के दर्शन कुबेर की पुष्पवाटिका के भिन्न-भिन्न पुष्पों एवं पदार्थों में होते थे। गरीब सुध-बुध खो बैठा रहता था। इसी में पूजा करने का शुभ मुहूर्त निकल जाता। दिन निकल जाने की पूजा तो राक्षस पूजा ही कही गयी है। अतः कुबेर जैसा शास्त्रज्ञ दृढ़ पुजारी भला क्रोध में आग-बबूला न हो जाय और उसे शाप दे दिया। मेघदूत में देखें—

> श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
> वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्
> उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
> हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति। उत्तरमेघ ४६

अर्थात् प्रियंगु की लता में तुम्हारा शरीर, चकित हरिणी की आँखों में तुम्हारी चितवन, चन्द्रमा में तुम्हारा मुख, मयूरपंखों में तुम्हारे केश तथा नदी की नन्हीं-नन्हीं लहरियों में तुम्हारी कटीली भौंहें देखा करता हूँ; किन्तु महादुःख है कि इनमें कोई एक भी संपूर्णरूप से स्यात् ही तुम्हारी समता कर सके।

यक्षप्रिया इतनी रूपसी है कि उसके वाम पदाघात के लिए अशोक भी फूलने का बहाना लेकर तरस रहा होगा और बकुल उसके मुँह से फेंकी गयी मदिरा के कुल्ले के छींटों को बड़ी बेचैनी से चाह रहा होगा। वह गोरी छरहरी, स्निग्ध, मुस्कान, सुपंक्ति दाँतोंवाली, पक्वबिम्बाधरवाली, पतली कमरवाली, डरी हुई हरिणी की तरह आँखोंवाली, गहरी नाभिवाली, नितम्ब-भार से धीरे-धीरे पाँव धरनेवाली तथा स्तनों के बोझ से आगे झुकी हुई जो युवती बहुत सारी युवतियों के बीच में सुशोभित हो रही होगी, वही उसकी प्राणवल्लभा होगी। उसकी सुन्दरता को देखकर यही जान पड़ेगा जैसे विधाता की सर्वप्रथम कृति हो।

तन्वी श्यामा शिखरदसना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्येक्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः। उत्तरमेघ २२

कालिदास ने ऐसी सुदर्शना यक्षवनिता का ऐसा नयनाभिराम सौंदर्याङ्कन किया है कि वह शाश्वत काल के लिये रसिकों को आनन्दाप्लुत करता रहेगा। ठीक ही तो है—A thing of beauty is a joy for ever। वह सौंदर्य-मूर्ति जब दाहक दीर्घ विरह के कारण दिनानुदिन छीज रहा होगा, उस ग्रहण से घिरी चन्द्रकला का कैसा मर्मस्पर्शी एवं हृदय भेदक चित्र कालिदास ने खींचा है, उसका स्मरण कर पाठक वाष्पबोझिल नेत्रों से यक्षिणी के प्रतिशोधवश कुबेर पर ही अभिशापाग्नि की वृष्टि करता है। पाठक यक्ष के एक क्या, यदि लाख कसूर होते, तो भी ऐसी मनमोहिनी के कारण, सबको माफ कर देता। सुन्दरता अनजाने अकारण ही कितनी सहानुभूति अर्जित कर सकती है, इसका उदाहरण मेघदूत छोड़ अन्यत्र कहाँ मिलेगा?

कालिदास के सर्वप्रथम नाटक मालविकाग्निमित्र में मालविका जो आपाद-मस्तक सुन्दरी है, अग्निमित्र का मन मोह लेती है (अहो सर्वस्थानानवद्यता रूप विशेषस्य)। आँखें बड़ी बड़ी, चमकीले शरदचंद्र की तरह मुख, कंधों पर झुकी भुजायें, उभरते हुये कड़े स्तनों को जकड़ी हुई छाती, मोटी-मोटी जाँघें, थोड़ी झुकी हुई दोनों पैरों की उँगलियों तो ऐसी जान पड़ती हैं मानो इसके नाट्यगुरु की फरमाइश पर इसका शरीर गढ़ा गया हो।

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्ति वदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्य. पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपु ॥ द्वितीय अङ्क ३

यह राजलक्ष्मी-सी मालविका सिर पर छोटी ओढनी ओढे हुई तथा नीचे से ऊपर तक अनेक प्रकार के शृंगारों से सुसज्जित चैत की उस रात जैसी लगती है जिसमें कुहासा हट जाने से तारे खिलखिला आये हों और चाँदनी भी बस छिटकने वाली ही है।

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हृतहिमैरिव चैत्रविभावरी
पंचम अङ्क ७

विक्रमोर्वशीयम् की "नह माता नह कन्या" अनिंद्य सुन्दरी उर्वशी के बारे में जो लोग यह कहते हैं वह नारायण ऋषि की जाँघों से उत्पन्न हुई है, बिलकुल फिजूल बात है। वेद पढ़-पढ़कर पथराये हुये और भोग विलास से कोसों दूर रहनेवाले बूढ़े खूँसट ऋषि से सुन्दर रूप कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसे बनाने के लिए चाँदनी बिखेरनेवाले प्रकाशपुञ्ज चन्द्रमा स्वयं ब्रह्मा बने होंगे, या शृंगार रस के देवता कामदेव ने इसे बनाया होगा, या फिर पुष्पाकर वसंत ही इसके स्रष्टा होंगे।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः। प्रथम अङ्क १०

उर्वशी के सौंदर्य के लिए कालिदास स्थूल उपकरणों को नहीं जुटाते। इसके लिए ब्रह्मा को समग्र सृष्टि से सुन्दर-सुन्दर सामाग्रियों का संचयन नहीं करना पड़ता। इसके लिये कमल से नत्र, बिम्बाफल से अधर, भ्रमरपंक्ति से कचजाल, कदली खंभ से जाँघ, जलभँवर से नाभि, शिरीष से भुजायें, भीता हरिणी से चितवन, मुक्ता से हिमदाम लेने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उर्वशी का शरीर तो आभूषणों को भी आभूषित करनेवाला है, प्रसाधनों को प्रसाधित करनेवाला है तथा उपमानों को उपमित करनेवाला है।

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः। द्वितीय अङ्क ३

ऐसी अपार सुषमावाली उर्वशी को एक बार दैवयोग से भी देख ले, वह भला कैसे नहीं उसके वियोग में विकल हो उठेगा ! और शरीर का विद्युत-संस्पर्श यदि हो जाय, तो शरीर के अगणित रोमांच ऐसे लगते हैं मानो प्रेम के अगणित अंकुर फूट पड़े हों। सौंदर्य और प्रेम का ऐसा निगडबंधन कालिदास की समस्त कृतियों में मिलेगा। अत उर्वशी जब आकाशमार्ग से गमन करती है, तो केवल पुरुरवा के मन को ही वेग पूर्वक अपनी ओर नहीं खींचती, बल्कि सहृदयों के चित्त को भी, जैसे पतग के पीछे-पीछे धागे बँधे हों—

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्पितु पदं मध्यमसुत्पतन्ती,
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी।

प्रथम अङ्क २०

कालिदास के विश्ववंद्य नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शकुंतला का सौंदर्य कई प्रकार से वर्णित है। उसका आंतरिक सौंदर्य जैसा लुब्धकर, उससे कम उसका बाह्य सौंदर्य नहीं। मधुराकृति को मंडन की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँ तक कि गुदड़ी में लाल को कोई रख दे तो वह अपना प्रकाश बिखेरेगा ही। जिस सुकुमारी के अंगों पर महार्घ कौशेय वस्त्र होना चाहिये था, वे ही अंग अयोग्य वल्कल से ढँके हैं। फिर भी जैसे सेवार में घिरा कमल और धब्बों से भरा चाँद अच्छा लगता है वैसे ही वल्कलवेष्टिता शकुन्तला।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्। प्रथम अङ्क १६

इसके अधर नयी निकली कोंपलों की तरह लाल हैं, दोनों भुजायें कोमल शाखाओं जैसी तथा नया यौवन फूल की तरह लुभावना दीखता है।

अधर किसलयरागः कोमल विटपानुकारिणौ बाहू,
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम्। प्रथम अंक २०

शकुंतला की सुन्दरता को कवि ने हल्के, किन्तु तीव्र स्पर्शों (touches) के माध्यम से बड़ी बारीकी से उभारा है। आपातस्थूलता एवं स्पष्ट कामोत्तेजना के अभाव में भी यह रूप कई इन्द्रियों में उद्वेग उत्पन्न करता है। दर्शनीय है—

अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं,
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधि ।

अर्थात् अनसूँघे फूल, अनखक्षत किसलय, विनवींध रत्न, अनचखे नवमधु और अनभोगे पुण्यफल की तरह शकुंतला का पवित्र लावण्य है।

इस वर्णन से स्पर्श, घ्राण, हाथ, नासिका और जिह्वा में एक ही साथ हलचल पैदा हो जाती है, किंतु पुण्यफल का भोग उस उफान को शांत कर देता है।

किंतु कालिदास सौंदर्य का केवल विषयगत रूप ही नहीं स्वीकारते वरन् उसका विषयीगत रूप भी। इसलिए उनकी शकुंतला का शरीर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसका चचल मन पीछे की ओर दौड़ता है, जैसे पवन के सामने झंडा ले जाने पर उसकी पताका पीछे ही फहराती चलती है।

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य

कामायनी में प्रसादजी ने भी कामायनी के बाह्य सौंदर्य के साथ कवि की अंतर्वृत्तियों का एवंविध संपृक्त किया है—

आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम,
बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रविमण्डल उनको भेद,
दिखाई देता हो छविधाम!
कुसुम कानन अंचल में मन्द,
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु राका मन की साध,

कालिदास के सौंदर्य चित्रण से यह बात स्फटिक-स्वच्छ हो गयी कि वे सौंदर्य के दृश्य तथा स्पर्श्य रूप के साथ भावग्राह्य रूप भी स्वीकारते हैं। जहाँ उन्होंने उत्तमोत्तम उपकरणों से सौंदर्य की बाह्य रेखाओं को विद्युत् प्रभा प्रदान की है, वहाँ उसका मानसिक प्रभावोत्पादक रूप भी हमारे समक्ष रखा है। वह बाह्रिक सौंदर्य भी दो कौड़ी का, जिसमें आन्तरिक सौंदर्य नहीं। इस तरह कालिदास की समस्त नायिकाओं में बाह्रिक एवं मानसिक सौंदर्य का मणिकांचनयोग घटित हुआ है। यही कारण है कि कालिदास का सौंदर्य चित्रण सत्य एवं शिव से सम्पृक्त होकर विश्वसाहित्य का अनर्घ कुबेर-कोष सिद्ध हुआ है।

महाकवि भवभूति—करुण रस के अवतार

शृंगार प्रकाश के प्रणेता भोजराज ने शृंगार को एकमात्र रस माना, अलंकारकौस्तुभकार कवि कर्णपूर ने प्रेम को, हरिभक्ति रसामृतसिंधु-स्रष्टा रूपगोस्वामी ने भक्ति को, आज का प्रगतिवादी कवि जहाँ अपने हृदय को केवल घृणा रस से परिपूर्ण कर लेना चाहता है जिससे वह अपने ज्वलित रोष की वह्नि-वृष्टि में नरपिशाच धन-कुबेरों को भस्मसात् कर सके, प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा साम्प्रत युग का व्यापक रस निंदा की स्वीकृति प्रदान करते हैं,[1] वहाँ महाकवि करुण को ही एकमात्र सर्वातिशायी रस मानते हैं। तमसा द्वारा उत्तररामचरितम् के तृतीय अंक में उन्होंने अपना मंतव्य इस प्रकार प्रकट किया है :—

एको रस करुण एव निमित्तभेदा-
भिन्न पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समग्रम्॥

अर्थात् एक ही रस करुण है, कारण-भेद से भिन्न-भिन्न विवर्त्त धारण करता है, जैसे एक ही जल वायु-क्षोभादि कारणों से भँवर, बुद्बुद् और तरङ्ग का रूप धारण करता है। भवभूति के अनुसार करुण-रस में अन्तःकरण की गंभीरता एवं तल्लीनता का परिज्ञान होता है। हास्यादि रस तो बाह्यविकार उत्पन्न कर रह जाते हैं। "अभिज्ञान शाकुंतलम्" में शकुंतला की विदाई के अवसर पर कण्व के हृदय में जो करुणा उमड़ती है, वह वात्सल्य के रूप में प्रकट हुई है। इसी तरह मेघदूत जो हमें इतना आकृष्ट करता है, उसमें करुण रस का स्रोत उमड़ता है, भले वह विप्रलंभ शृंगार जैसा प्रतीत होता है। भवभूति की इसी मान्यता को शैली जैसे सुप्रसिद्ध आंग्ल कवि ने भी स्वीकार किया है—

Our sweetest songs are those
Which tell of saddest thought.[2]

उत्तररामचरितम् तो करुणरस का महासागर ही है। यह करुण इष्टविनाश से निष्पन्न नहीं, वरन् दारुण इष्टविवासन से हुआ है; वैसे कोई कहना चाहे तो इस

---

१. भले ही स्वयंभोक्ता के तीव्र अनुभव के कारण।
2. To a Skylark

नाटक को विप्रलंभ श्रृंगार का नाटक कह सकता है, किन्तु भवभूति के अनुसार इस नाटक में करुण-रस की ही अवस्थिति जाननी चाहिये, क्योंकि प्रियतम का मर्मभेदी मरणतुल्य वियोग हुआ है।

महाकवि ने जब सीतावियोग मे पाषाण को रुलाया है तथा वज्र तक के हृदय को विदीर्ण कराया है, तो प्रकृति के कोमल पदार्थ कुसुम, वीरुध मृगादि तथा सृष्टि के कोमलतम पदार्थ मानव के बारे में कहना ही क्या था¹ सीताहरण तथा सीतानिर्वासन के उपरान्त राम की असहायावस्था, राम से विरहिता सीता की दीनावस्था, आसन्नप्रसवा सीता के वातारोपण के बाद अरुंधती, कौशल्या, जनक, सीता-सहचरी तमसा तथा मोहविजयिनी वनवासिनियों एवं स्थितप्रज्ञ ऋषियों की विपन्नावस्था का जैसा हृदय-द्रावक वर्णन किया है, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में ऐसा वर्णन दुर्लभ है।

म्लान जीवन कुसुम को विकसित करनेवाली, कानों के लिए अमृत, मन के लिए रसायन, जिस सीता के वचन हों, जिसके दर्शन नयनों के लिये अमृतअंजन-शलाका हों, जिसका स्पर्श शरीर में गाढा चन्दन रस हो, जिसकी मसृण भुजायें गल में मौक्तिकसर हों तथा जो स्वयं घर की लक्ष्मी हो, ऐसी सीता के बारे में जब दुर्मुख ने लोकापवाद कहा तो वे 'अहह तीव्र संवेगो वाग्वज्र'' कहकर विमूर्च्छित हो गये। वे सोचने लगे 'हा! हा! धिक्कार है पराये घर में रहने का। जो कलंक अग्नि-परीक्षा जैसे असाधारण उपाय से शांत कर दिया गया, वही दैवदुर्विपाक से पुनः पागल कुत्ते के काटने में उत्पन्न विष के समान सर्वत्र फैल गया है।'

हा हा धिक्परगृहवासदूषणं य
द्वैदेह्या प्रशमितमद्भुतैरुपायैः।
एतत्तत्पुनरपि दैवदुर्विपाका-
दालर्कं विषमिव सर्वतः प्रसृतम्॥²

सीता के परित्याग का ध्यान करके राम का अंतर्मंथन आरम्भ हो गया। जो सीता मेरे घर की अलौकिक शोभा है, जो अपनी कोमल कुसुम बाँहों का मुक्त हार पहनाकर निश्चिन्त होकर सो गयी हो, जिस सीता के कठोर गर्भ फुरफुरा रहे हैं, उसी सीता को उठाकर जगली जन्तुओं के सामने जशन मनाने के लिए मैं निष्ठुर फेंक दूँ?

---

१ जन स्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

२. उत्तररामचरितम्—अंक १, श्लोक ४०

विस्रम्भादुरसि निपत्य लब्ध निद्रा-
मुन्मुच्य प्रियगृहिणी गृहस्यशोभाम्।
आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वी,
क्रव्याद्भ्यो बलिमिव निर्घृणः क्षिपामि ॥[1]

शूद्र मुनि को दंडित करने के लिए जब राम का पुनरागमन वन में हुआ तो पंचवटी को देखकर पुरानी सारी घटनाओं की याद कौंधने लगी। बहुत दिनों के बाद अत्यन्त तीव्रता से आरंभ होनेवाले तथा शरीर में अत्युग्र विषरस के समान, हिले हुए धँसे बाणाग्र के समान तथा फूटे हृदयमर्म के फोड़े के समान घनीभूत शोक विह्वल एवं चेतना-शून्य कर रहा है।

चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरसः,
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
घनीभूतः शोको विकलयति मां मूर्च्छयति च ॥[2]

सीता के वियोग में राम शोक से विह्वल रहते हैं, उनकी समस्त इन्द्रियाँ विकल रहती हैं, वे बड़े ही दुबले-पतले हो गये हैं, उनकी कान्ति पाडुवर्ण हो गयी हैं तथा वे किसी-किसी प्रकार पहचानने योग्य रह गये हैं। वे इतने गंभीर हैं कि कि बाहर शोक प्रकट होने देना नहीं चाहते, फिर भी भीतर-ही-भीतर गाढ़ वेदनावाला उनका शोक पक रहा है; जैसे पुटपाकविधि से कोई औषधि पकती है। मुरला ने ठीक ही कहा है—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः,
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः।[3]

राम के रोदन, मूर्च्छन एवं उल्लापन से उत्तररामचरित्रम् का अणु-अणु प्रकम्पित है। ओह! राम बड़ा ही कठोर है। गाढी व्यथावाला उसका हृदय फटता है, किन्तु दुःख है दो खंडों में विभक्त नहीं होता; शोकाकुल शरीर मूर्च्छित होता है, किन्तु सर्वथा संज्ञा शून्य नहीं होता; अन्तर्दाह शरीर को जलाता है, किन्तु पूर्णतः भस्मसात् नहीं करता; मर्मच्छेदी दैव प्रहार तो करता है, किन्तु जीवन का उच्छेद क्यों नहीं करता। श्लोक देखें—

---

१. वही, अंक १, श्लो० ४६
२. वही, अंक २, श्लो० २६
३. वही, तृतीय अंक, श्लो० १

दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥[१]

वन में सीता की स्थिति मालूम पड़ती है, किन्तु आँखों के सामने नहीं आती। भला यह तड़प और बेचैनी कैसे सह्य हो ! ऐसी स्थिति में राम का हृदय फटता है, देह-बंधन विशीर्ण होता है, जगत् शून्यवत् दीखता है, अविश्रान्त ज्वालाओं के भीतर जलता है, अवसादयुक्त अन्तःकरण अंधकार में डूबता है, सब ओर से आकर मूर्च्छा घेरती है, हतभाग्य राम अपने को कैसे जिलाये रखे ?

हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥[२]

षष्ठ अंक में कुश ने लव से बतलाया है कि सीता बिना राम के लिए सारा जगत् ही जंगल की तरह हो गया है। इतना अधिक प्रेम और इतना अवधि-रहित वियोग ! अंतिम अंक में वाल्मीकि के आश्रम में जब राम ने नाटक में सीता को गंगा में कूदते देखा, तो अत्यधिक प्रीतिमोह के कारण स्मरण ही नहीं रहा कि यह नाटक है। लक्ष्मण को कहा कि मैं इस समय अज्ञात तथा आकस्मिक घनांधकार में प्रविष्ट हो रहा हूँ। यह दृश्य देखकर राम पूर्णतः चेतना खो देते हैं। जब पंखा झला जाता है, तो बहुत देर के बाद चेतना लौटती है। इस प्रकार संपूर्ण नाटक में राम की मर्मभेदी पीड़ा का अनगिन स्रोतों में आप्लावन हुआ है।

राम के वियोग में सीता 'पीली पड़ दुर्बल कोमल कृश देहलता कुम्हलाई' की स्थिति में आ गयी हैं। उनके विप्रलंभ-जनित रूप का वर्णन तमसा और मुरला ने क्रमशः एवंविध किया है—

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं
दधती विलोलकबरीकमाननम् ।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी ॥

१. वही, तृतीय अंक, श्लो० ३१
२. वही, तृतीय अंक, श्लो० ३८

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम्॥[१]

वियोग के कारण सीता के कपोल छोटे और पीले पड़ गये हैं, मुख पर केश बिखरे रहते हैं, करुण रस की मूर्त्ति या विरह व्यथा ही जानकी के रूप में साक्षात् शरीरधारणी हो गयी है। कठोर दीर्घव्यापी शोक सीता के हृदयरूपी पुष्प को सुखानेवाला, डंठल-टूटे नये पल्लव के समान, अतिशय पाडुवर्ण तथा कृश शरीर को उसी प्रकार जला रहा है जैसे शरद् की धूप केतकी पुष्प के भीतर-स्थित पत्ते को।

ब्रह्मवादी जनक का हृदय भी सीताविषयक शोक से भीतर ही भीतर जलता है, जैसे अन्तर्व्याप्त अनलवाला जीर्ण शमीवृक्ष।[२] सीता पर जो अनर्थपात हुआ है, उसने हृदय को बुरी तरह घायल कर दिया है। वही अनर्थपात चिरकाल के बाद भी निरन्तर संचारित होकर आरे की तरह मर्म-स्थानों को काट रहा है। भला शोक शांत कैसे हो? जनक जैसे प्राक्रेय ब्रह्मर्षि का उद्दाम व्यथोत्पीड इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

अपत्ये यत्तादृग्दुरितमभवत्तेन महता
विषक्तस्तीव्रेण व्रणितहृदयेन व्यथयता।
पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे
निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति॥[३]

वसिष्ठ-पत्नी अरुंधती तथा कौशल्यादि राम-मातायें विभाण्डक सुत ऋष्यशृङ्ग के द्वादशवार्षिक सत्र में सम्मिलित होने गयी थीं कठोरगर्भा जानकी को राजधानी में ही छोड़कर। यज्ञ समाप्त होने पर सीता वनवास का समाचार उन्हें ऋष्यशृंग के यहाँ ही ज्ञात हुआ। सबने एक स्वर से ऐसा निश्चय किया सीता विरहित अयोध्या तो श्मशान-तुल्य है। अतः वे वहाँ से वाल्मीकि आश्रम में चली आयीं। महाराज दशरथ की धर्मदारा कौशल्या की विचित्र दशा हुई है। वे तो पहचान में भी नहीं आती हैं। वे तरह-तरह से विलाप करती हैं—हा बच्ची, आज तुम कहाँ हो? विवाह जनित

---

१. उत्तररामचरितम्, अंक ३, श्लोक ४,५
२. हृदि नित्यानुषक्तेन सीताशोकेन तप्यते
   अन्तःप्रसृतदहनो जरन्निव वनस्पतिः। अङ्क ४, श्लोक २.
३. वही, चतुर्थ अङ्क, श्लोक ३.

नवीन शोभारूपी भूषणवाली, विकसित सरल हास्यवाली आज किधर चली गयी ? बेटी ! तुम्हारा मुख कमल हर क्षण याद आ रहा है। चन्द्रमा की चाँदनी की तरह अंगोंवाली पुत्री तुम आकर शीघ्र मेरी गोद को सुशोभित करो।" इस तरह का क्रन्दन सर्वत्र मिलेगा।

जैसा पहले ही मैंने निवेदित किया है कि इस नाटक में करुण प्रियविनाशजनित, धननाशजनित या पराभवजनित नहीं है, वरन् प्रियवियोग जनित है। मुख्य आलंबन सीता है, आश्रय राम, जनक, कौशल्या आदि अनेक चेतन तथा जड़। यदि जड़ के हृदय में शोकाप्लावन नहीं दिखाया तो कवि की महानता कैसी ? ईश्वरीय सृष्टि का कण-कण सीता-वियोग से व्यथित एवं विह्वल है। उद्दीपन के लिए सीता के असंख्य शारीरिक एवं आत्मिक गुण हैं। जैसा रूप, वैसा शील, जैसा आचार, वैसा विचार है। नयनकौमुदी, सबकी अन्तरात्मा तथा सजीविनी-बूटी वह केवल राम के लिये ही नहीं है, केवल अपने परिवार से संबद्ध व्यक्तियों के लिये ही नहीं है, वरन् पृथिवीतनया सीता असंख्य प्राणियों के लिये तद्रूपा हैं। उनके एक एक गुण का स्मरण कर हृदय शतधा विदीर्ण हो उठता है।

रुदन, उच्छ्वास, मूर्च्छा, उल्लाप जैसे अनुभाव तो प्रतिपृष्ठ पर प्राप्त होते हैं। वैवर्ण्य प्रभातचन्द्रमण्डल की तरह परिपाण्डुर तथा परिक्षाम राम तथा सीता, कौशल्या, जनक आदि के ऐसे मुरझाये मुलसे गात्रों में देखा जा सकता है।

ग्लानि, मोह, स्मृति, दैन्य, विषाद् अपस्मार, व्याधि, जड़ता, उन्माद जैसे अनेकानेक संचारी वीचि-क्षोभ उत्पन्न करते हैं। आद्यंत गूढ़ घनव्यथा का घोर अंधकार इस प्रकार छाया है कि इसमें विदूषक की चुहल की जुगनु चमक का भी अवसर नहीं। लगता है, महाकवि स्वयं करुण रस के अवतार हैं। उनकी अवतरण-लीला का नित्य तथा एक रस प्रवाह उनके उत्तररामचरितम् के चप्पे चप्पे में प्रसृत है।

कबीर की अप्रस्तुत योजना

कबीर ऐसे कोई रीति कवि नहीं जो प्रत्येक दोहे में अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करने को परिकरबद्ध हों, ऐसे कवियश प्रार्थी भी नहीं जो कविता और वनिता को बिना भूषण के विभूषित नहीं मानते, ऐसे उद्भट प्रदर्शन-प्रिय भी नहीं जो प्रत्यक्षरलप देकर धाक जमाना चाहते हों, या फिर ऐसे लालची अधीती भी नहीं जो परंपरित प्रयोगों को कुशलता पूर्वक आयत्त कर अपने असीम अध्ययन का अभिसाक्ष्य प्रस्तुत करते हों। मसि कागद न छूकर भी ढाई अक्षर प्रेम के पढ़नेवाले परमपण्डित कबीर ऐसे रमतायोगी हैं जिनके समक्ष जीवन के विशाल कोष का पन्ना पन्ना खुला है और उसी अनन्त कोष से वे साहचर्य-सम्भूत, स्वयंदृष्ट एवं अनुभूत उपमानों को चुनते हैं अपने कथन को स्पष्ट करने, अपने पैने विचारों को सम्प्रेषित करने में, जो सीधे बरछे की तरह तन-मन को बेध देते हैं। इस प्रक्रिया में कबीर अप्रस्तुत योजना के तीन लोकों को माप लेते हैं, किंतु हकीकत यह है कि प्रथम और द्वितीय में उन्हें अत्यल्प सफलता मिलती है, तीसरे में तो वे स्वयं अपना मानदण्ड बन जाते हैं।

अप्रस्तुत योजना के तीन लोक ये हैं—

(१) योगशास्त्र

(२) प्रकृतिशास्त्र

(३) जीवनशास्त्र

(१) कबीर ने जहाँ कहीं भी परंपरित योगशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली के प्रति समोह दिखलाया है वहाँ उनका विवेच्य अपनी स्पष्टता खोकर पाठक की बुद्धि को व्यूहित करता है। प्रमाणार्थ दो एक साखियाँ देखें—

चौपड़ी माँडी चहूँटे, अरध उरध बाजार
कहै कबीरा रामजन, खेलौ संत विचार।

शरीर के चौराहे त्रिकुटी पर चौपड़ बिछी है। कुण्डलिनी-मार्ग में चक्रों का बाजार लगा हुआ है। संतजन इस खेल को विचारपूर्वक खेलते हैं।

गगन गरजि अमृत चवै, कदली कवल प्रकास
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निज दास॥

शून्यरूपी गगन में अनहद नादरूपी बादल गरजकर अमृतवृष्टि करते हैं तथा मेरुदण्डरूपी नाल के ऊपर सहस्रदल-कमल विकसित हैं। ऐसे स्थान पर कबीर पहुँचा है या कोई अनन्य दास पहुँचा है।

सुरत ढेकुली लेचलयौ, मन नित ढोलनहार।
कँवल कुँवा में प्रेम रस, पीवै बारबार॥

सहस्रदल-कमलरूपी कुँए में प्रेमपूर्ण अमृतरस भरा है। साधक सुरति की ढेकुली और लगन की रस्सी से मन की बाल्टी में भरकर इस रस को पीता है।

पहले में चौपड़, दूसरे में बदली तथा तीसरे से कुँए से जल भरकर पीने का रूपक है, किन्तु योगशास्त्र के चक्र, गगन, अनहद नाद, अमृत सुरतादि से इस प्रकार उलझा दिया गया है कि इसका चित्र मानसगोचर होता नहीं, अनुभूति-गम्यता की चर्चा तो व्यर्थ ही है।

(२) कबीरदास हिन्दी के कालिदास या भवभूति नहीं जहाँ सम्पूर्ण भौगोलिक तथा वानस्पतिक जगत् मानवीय संवेदना से ओत प्रोत दिखलाई पड़ता हो, वर्ड्सवर्थ नहीं जिनका हृदय आकाश में उदित इन्द्रधनुष को देखकर उल्लसित हो उठता हो या गेटे नहीं जिनकी जीवनयात्रा में पड़नेवाला एक-एक उपादान मनोमोहक बन गया हो। रवीन्द्रनाथठाकुर की तरह भी वे जीवन-काव्य का अनुचिंतन करनेवाले व्यक्ति नहीं थे। अपने रोजगार में मस्त, आजीवन घुमक्कड़ कबीर जहाँ-कहीं भी पहुँचते होंगे, साथ में एक छोटी भीड़ सदा तैयार। इसलिए कबीर के काव्य में प्राकृतिक उपमानों की हरीतिमा का अभाव ही है।

दो-तीन उदाहरण पर्याप्त होंगे।

कबीरा बादल प्रेम का, हम पर बरष्या आइ
अंतर भीगी आत्मा हरी भई बनराइ॥

प्रभुप्रेम का बादल बरसने से अन्तरात्मा भींग गयी और शरीररूपी तन प्रदेश में हरियाली छा गयी।

चकवी बिछुड़ी रैणि की, आई मिली परभाति
जन जो बिछुड़े राम सूँ, ते दिन मिले न राति॥

रात्रि की बिछुड़ी चकवी प्रातःकाल चकवे से मिल जाती है, किन्तु प्रभुवियुक्त आत्मा दिन रात कभी भी नहीं मिल पाती।

(३) किन्तु जहाँ कबीर जन-जीवन तथा संसार की ओर अनुवीक्षिणी दृष्टि का परिचय देते हैं, वहाँ तो वे विमुग्ध किये बिना नहीं रहते। उनका कहना है कि गुरु ने अपने ज्ञानस्वरूप में शिष्य को उसी प्रकार एकाकार कर लिया जिस प्रकार आँटे में नमक मिल जाता है। यदि शिष्य में त्रुटि रहे तो गुरु के लाख

यत्न करने पर भी शिष्य का पूर्ण सुधार संभव नहीं ; जैसे वंशी में फूँक क्षणभर रहती है फिर छिद्रों की राह से निकल जाती है। सद्गुरु का का काम शिष्य को ज्ञान की चौकीपर बैठाकर ज्ञान देना है ताकि वह सांसारिक भ्रमों से निर्भय हो। भ्रमयुक्त चित्त को गुरु-उपदेश भी बहुत लाभ नहीं पहुँचा सकता, जैसे जीर्ण शीर्ण वस्त्र को मजीठ रंग भी आकर्षक नहीं बना पाता। सद्गुरु लोहार की तरह शिष्य को ठोंक पीट कर सुडौल बनाता है तथा परीक्षा की अग्नि में तपा-तपाकर कंचन बना देता है। कबीर ने प्रेम के पासे से शरीररूपी चौपड़ पर खेलना आरम्भ किया है और सद्गुरु दाँव बताता जाता है।

कबीर की धारणा है कि जबतक शरीररूपी दीपक में जीवनरूपी वर्तिका है, तबतक निर्भय होकर राम भजन करना चाहिए, ज्योंही श्वासरूपी तेल समाप्त हुआ, जीवन वर्तिका बुझ जायेगी। जिसने प्रेम रस का स्वाद नहीं लिया, उसका जीवन व्यर्थ गया। रामप्यारे को छोड़कर जो अन्य देवताओं का भजन करता है, उसकी स्थिति उस वेश्यापुत्र के सदृश है जो किसी एक को अपना पिता नहीं कह सकता। साधना का पथ प्रत्यूहों से आच्छन्न है, क्योंकि उसमें कामादि डाकू सदा तैयार रहते हैं। हृदयरूपी चकमक पत्थर के कारण चतुर्दिक् प्रलोभनों की आग लग गयी है। यह अग्नि हरिस्मरणरूपी घट से ही बुझायी जा सकती है।

पुन वे कहते हैं कि प्रभु के दर्शन यदि मृत्यूपरान्त हुए तो क्या लाभ ? यदि लोहे को पहले से ही घिस घिस कर समाप्त कर दिया जाय तो क्या प्रयोजनीयता ? विरहिणी आत्मा की इच्छा होती है कि इस शरीर को जलाकर स्याही बना ले तथा अस्थियों की लेखनी से राम राम लिखकर अपने प्रियतम के पास भेजे तो कदाचित् वह प्रसन्न हो। प्रियतम ने ऐसा प्रेम शर चलाया कि हृदय के आर पार हो गया और उसकी गहरी चोट के कारण वह जीवन और मरण के बीच झूल रहा है। विरहरूपी सर्प शरीर बाँबी में घुस गया है जिसे कोई मंत्र बाहर निकाल नहीं सकता। शरीररूपी एकतारे पर शिराओं की ताँतों को विरह नित्य बजाता है और जिसके श्रोता प्रेमी और प्रेयसी के अतिरिक्त कोई नहीं। विरह तो सुलतान है। जिस हृदय में उसका निवास नहीं, वह तो श्मशान के समान है। उसके नेत्रों से निरंतर अश्रु-प्रवाह रहट की तरह चलते रहते हैं और जीभ पपीहे की तरह नाम रटती रहती है। जैसे घुन भीतर-ही भीतर काठ को खोखला बना देती है वैसे ही विरह। विरहिणी तो विरह की लकड़ी है जो शनै शनै धुधुआती है। इस भवसागर के मध्य डूबनेवाले को बड़ी मुश्किल से प्रेम का बेड़ा मिला, किन्तु उस पर वह विरह का साँप बैठा है जिसको पकड़ना और त्यागना मरणतुल्य है। संसार रूपी बाजार में जीवात्मा रूपी चिंतामणि विक्रयार्थ रखी गयी, किन्तु माया रूपी दलाल ने उसमें अड़चन डालनी प्रारंभ कर दी।

पुनः कबीर कहते हैं कि कुंभकार का पकाया घड़ा जिस तरह दुबारा चाक पर नहीं चढ़ता उसी तरह प्रभु-भक्ति में पगे जीव इस संसारचक्र में दुबारा नहीं पड़ते। प्रभुप्रेम की मदिरा बड़ी मीठी है, किन्तु गुरुरूपी कलाल इसके लिए पियक्कड़ों से बड़ी कुर्बानी चाहता है। हरि-रस की मदिरा जिसने पी ली, उसका खुमार कभी नहीं उतरता। शरीर-रूपी कमंडल में भक्ति का पवित्र नीर है। इस हृदय रूपी घर में प्रभुरूपी अतिथि का आगमन हुआ, इसलिए भक्तिरूपी षट्-व्यंजन से उनकी अभ्यर्थना की जाय। यह शरीर लाक्षागृह है, जो शीघ्र ही भस्म हो जायेगा। इतना ही नहीं; शरीर तो धूलि की पुड़िया है, धुएँ का महल है, कुंभकार की मिट्टी है जो बार-बार लात खाती है या काठ की हांडी है जो दूसरी बार नहीं चढ़ती। और भी, शरीर की निस्सारता सिद्ध करते हुए वे कहते हैं कि शरीर कच्चा घड़ा है जो कुंभकार की थपकी बार-बार खाता है या साँप की केंचुली। शरीर वन है जिसका उच्छेद कर्मों की कुल्हाड़ी करती है। संसार और कुछ नहीं, बल्कि दुखों का पात्र है जो अभावों से भरा है। मायाबंधन में बँधा यह कचनतन खूँटे की लोथ है जो बारंबार धक्के खाती है। शुभ कर्म सुन्दर सूत है जिसके ग्राहक राजाराम हैं। मनुष्य का अहं रुई में लिपटी हुई अग्नि है जो शीघ्र लपटों में परिवर्तित होकर सर्वस्व जला दे। यह जीवननौका जर्जर है, मल्लाह भी बेकार है। अत: वही पार जा सकता है जिसके साथ पाप का बोझ नहीं हो। जिस प्रकार तकुए पर चढ़े कच्चे सूत को खींचकर उसे उसकी केन्द्रस्थान पिंडिया पर चढ़ा दिया जाता है, उसी प्रकार प्रभु भक्ति में अपरिपक्व मन को ब्रह्म में लगा दे।

इसी तरह उनके प्रेमपूर्ण वस्त्र का रंग इतना गाढ़ा है कि संसार भर के धोबी इसे धोने में जीवन समाप्त कर दें तो भी उसमें प्रेम का रंग दूर नहीं हो सकता। मन तो घोड़े की तरह निरंकुश है। यह हाथी है, इसे भीतर ही घेरकर मार देना चाहिये। मन की मछली को काट कूटकर उसने ब्रह्मरूपी छींके पर लटका कर रख दिया। मनरूपी पक्षी प्रभुप्राप्ति के लिये बहुत दूर तक उड़ चुका। शरीर-रूपी मंदिर पर मन की ध्वजा फहरा रही है जो विषयरूपी वायु के स्पर्श से लहराती है। पाँचों तत्त्वों के बाण चलाकर शरीररूपी धनुष कसकर मनरूपी मृग का वध करना उचित है।

कबीर ने संसार और माया पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं। यह संसार बाजार है तथा इन्द्रियस्वाद ठग है। माया बंदरा है जो जीवों को ठगती है। माया पिशाचिनी है जो जीवों को अपना आहार बनाती है। माया की तीतरवानी पड़ा बिना बरसे रह नहीं सकती। मायारूपी चतुरी ने ज्ञानरूपी जल को सोख लिया। कलियुग में स्वामी और स्वांगी बड़े लोभी हैं। उनकी विरति वैसी है, जैसे ग्रीष्म ऋतु में चमका देने से थोड़ी देर के बाद पुन: मैल ही

हो जाता है। जिस तरह बलि पर चढ़ाया जानेवाला बकरा रस्सी में बँधा रहता है, जिस तरह कच्चावत्तू से बने कँगूरे तनिक-सी चोट से ढह जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य तनिक-सी सत्य की परीक्षा में डाँवाँडोल हो जाते हैं।

नारी के बारे में वे कहते हैं कि वह नागिन के समान है जिसका काम जीवों को डँसना है। कामिनी नारी मधुमक्खी है, यदि उसके पास आओगे, वह अवश्य डँस लेगी।

स्त्री के प्रति प्रेम लहसुन खान के समान है, जिसकी दुर्गन्ध किसी प्रकार छिप नहीं सकती। मनुष्य विषय वासना की केंचुली धारण कर उसी प्रकार अंधा हो जाता है जिस प्रकार साँप। तीर्थ में भटकना व्यर्थ है। मनुष्य का मन ही मथुरा है, हृदय ही द्वारिकापुरी है तथा शरीर ही काशी है। मूर्खों की संगति नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार लोहा जल पर तैर नहीं सकता, उसी प्रकार अज्ञानी विवेक को अपना नहीं सकते। अच्छी संगति में भी अज्ञानी सुधरते नहीं। संगति तो स्वाती बूँद की तरह है जो केले में कपूर, सीप में मोती तथा सर्प के मुख में विष बन जाती है। आत्मारूपी मक्खी मायारूपी गुड़ में चिपक कर पंख फड़फड़ाने में असमर्थ है। यह संसार तो काजल-कोठरी है जिसमें प्रवेश कर कोई निष्कलंक नहीं निकल सकता। प्रभु-वियोगी की वेदना को जानना सरल नहीं जैसे तम्बोली की दूकान पर रखा पान आप से आप पीला हो जाता है। मनुष्य-तन पाना का बुलबुला है जिसको प्राणवायु ने सुरक्षित रखा है, न तो कब फूट जाता। गृहस्थी और संन्यास दोनों अवस्थाओं में जीव उसी प्रकार विनष्ट ही होता है, जिस प्रकार कैंची के फलकों के बीच वस्त्र। जिस प्रकार स्फटिक के बीच दरार मिटती नहीं, उसी प्रकार मन का उत्थित संशय दूर नहीं होता। साधक का सिकलीगर (शानचढ़ानवाले) की तरह होना चाहिए जो शब्द रूपी पत्थर को घुमाकर साधक के शरीर को शीशे की तरह चमका देता है। कपटी का व्यवहार कनर के फूल की तरह है जो ऊपर से लाल किन्तु भीतर से श्वेत है।

इस तरह कबीर न जो लोक जीवन से अप्रस्तुतों को चुना है वे सीधे असर डालते हैं। उर्दू के दर्दी कवि मीर पर शोधकर्ताओं न उनकी शायरी से बहत्तर नश्तर चुन हैं किन्तु मर्मी कवि कबीर की रचनाओं से कितन ही नश्तर चुने जा सकते हैं जो गहराई तक चुभ जाते हैं।

लाग पाकर विदा लेता है। बच्चा अभी महज सात दिनों का है इसलिए माता कोमल शिशु को बहुत संभालकर पालने में लिटाती है। जरा इधर उधर हो जाय तो गर्दन में मोच पड़ जायगी, शिशु को अपार कष्ट होगा। सूर का कथन है—

> जननि उबटि न्हवाइ कै, क्रम सौं लीन्हे गोद।
> पौढ़ाए पट पालनैं, निरखि जननि मन मोद॥
> अति कोमल दिन सात के, अधर चरण कर लाल।
> सूर स्याम छवि अरुनता, निरखि हरष ब्रज बाल।

शिशु शनैः शनैः वर्धमान है। माता पालने पर झुलाती है, हलराती है, दुलराती है। कभी कन्हैया आँखें मूँदता है, कभी होठ फरकाता है, कभी लगता है कि वह सो गया है, इसलिए इशारे-इशारे से यशोदा गोपियों को चुप रहने को कहती है। फिर मधुर-मधुर स्वरों से लोरियाँ गाती है ताकि ललन की कच्ची नींद उचट न जाय।

> यशोदा हरि पालने झुलावै।
>
> हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
>
> × × ×
>
> कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै
> सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि करि सैन बतावै
> इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै
> जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावै

इस पद में कई मनोवैज्ञानिक स्थितियों का वर्णन एक साथ किया गया है। नवजात शिशु का पलकें झपकाना तथा अधर फरफराना उसकी स्वयंचालित क्रियायें (*Automatic actions*) हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि शिशुओं में प्रारंभकाल से ही भय-संचार (Fear emotion) तथा सौंदर्यविकास (Aesthetic development) होते हैं। अकुला उठना भय सचार के कारण ही है। बाल्यकाल से ही बच्चों में दृष्टि, ध्वनि, स्पर्श, घ्राण एवं रस-कल्पना का जागरण होता है। संगीत की स्वर लहरियों से बच्चों का शांत रहना या सुषुप्त हो जाना उसकी ध्वनि-चेतना (Sound-sensitiveness) द्योतित करता है। बच्चे जग न जायँ, इसलिये माँ का होठों पर उँगली रख चुप-चुप करना कितना स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है, कोई अनुभवी ही बतला सकता है।

सूरदास—बालमनोविज्ञान के आचार्य

महाकवि सूरदास ने बालमनोविज्ञान का अध्ययन अपने विश्वविद्यालीय जीवन में न तो किसी ऐच्छिक विषय के रूप में किया था और न इन्होंने फ्रायड, युंग एडलर आदि मनोविज्ञानशास्त्रियों की तरह केवल सिद्धान्तग्रन्थों का प्रणयन ही किया। वे मानव जीवन के सच्चे पारखी थे, इसलिए कागजी तोता बने बिना भी बाल-लीलाओं को काव्यायित किया, उसमे कोई मनोविज्ञान-वेत्ता चाहे तो उत्तम एव सरस मनोविज्ञान पुस्तक की रचना कर सकता है।

जन्मोपरान्त बाल-मनोविज्ञान के ये अध्याय हो सकते हैं—

(१) नवजात शिशु की प्रतिक्रियायें (Responses of the neonate)
(२) शारीरिक-विकास (Physical development)
(३) क्रियात्मक विकास (Motor development)
(४) परिपक्वता (Maturation)
(५) सौन्दर्य विकास (Aesthetic development)
(६) बुद्धि विकास (Intelligence)
(७) भाषा-विकास (Language development)
(८) सवेगात्मक-विकास (Emotional development)
(९) क्रीड़ा विकास (Play development)
(१०) सामाजिक-विकास (Social development)
(११) व्यक्तित्व विकास (Personality development)

सूर का बालवर्णन यदि ध्यानस्थ होकर पढ़ें तो देखेंगे सब का बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण महाकवि ने किया।

चिर प्रतीक्षा के बाद यशोदा को पुत्र हुआ है, अत सम्पूर्ण नगरी में आनन्द का पारावार उमड़ चला है। प्रातःकाल से ही द्वार पर तिल न रखने की जगह है। चारो ओर नगाड़े बज रहे हैं। मगल ध्वनि हो रही है। याचक एक लाख माँगता है, दो

लाभ पाकर विदा लेता है। बच्चा अभी महज सात दिनों का है इसलिए माता कोमल शिशु को बहुत संभालकर पालने में लिटाती है। जरा इधर उधर हो जाय तो गर्दन में मोच पड़ जायगी, शिशु को अपार कष्ट होगा। सूर का कथन है—

जननि उमटि न्हवाइ कै, क्रम सौं लीन्हे गोद।
पौढ़ाए पट पालनैं, निरखि जननि मन मोद॥
अति कोमल दिन सात के, अधर चरण कर लाल।
सूर स्याम छवि अरुनता, निरखि हरष ब्रज बाल।

शिशु शनै शनै वर्धमान है। माता पालन पर झुलाती है, हलराती है, दुलराती है। कभी कन्हैया आँखें मूँदता है, कभी होठ फरकाता है, कभी लगता है कि वह सो गया है, इसलिए इशारे इशारे से यशोदा गोपियों को चुप रहने को कहती है। फिर मधुर मधुर स्वरों से लोरियाँ गाती है ताकि ललन की कच्ची नींद उचट न जाय।

यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।

× × ×

कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि करि सैन बतावै
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावैं
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद भामिनि पावैं

इस पद में कई मनोवैज्ञानिक स्थितियों का वर्णन एक साथ किया गया है। नवजात शिशु का पलकें झपकाना तथा अधर फरफराना उसकी स्वयचालित क्रियायें (Automatic actions) हैं। प्राय सभी मनोवैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि शिशुओं में प्रारभकाल से ही भय सचार (Fear emotion) तथा सौंदर्यविकास (Aesthetic development) होते हैं। अकुला उठना भय सचार के कारण ही है। बाल्यकाल से ही बच्चा में दृष्टि, ध्वनि, स्पर्श, घ्राण एव रस-कल्पना का जागरण होता है। सगीत की स्वर लहरियों से बच्चा का शात रहना या सुषुप्त हो जाना उसकी ध्वनि चेतना (Sound sensitiveness) द्योतित करता है। बच्चे जग न जायँ, इसलिये माँ का होठों पर उँगली रख चुप चुप करना कितना स्वाभाविक एव मनोवैज्ञानिक है, कोई अनुभवी ही बतला सकता है।

मनोविज्ञान बहुत अधिक निरीक्षणों (Observations) के उपरांत बालकों की विभिन्न क्रियाओं के विकास का लेखा इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

१. एक मास	—	ठुड्डी उठाना
२. दो मास	—	धड़ उठाना
३. तीन मास	—	सहारा देने पर बैठना
४. सात मास	—	स्वयं बैठना
५. आठ मास	—	सहारा देने पर खड़ा होना
६. नौ मास	—	चीजों को पकड़कर खड़ा होना
७. दस मास	—	रेंगना
८. ग्यारह मास	—	सहारा देने पर चलना
९. बारह मास	—	चीजों को पकड़कर चलना
१०. तेरह मास	—	सीढ़ी पर चलना
११. चौदह मास	—	स्वयं खड़ा होना
१२. पंद्रह मास	—	स्वयं चलना
१३. दो वर्ष	—	तेजी से चलना
१४. ढाई वर्ष	—	कूदना फाँदना
१५. चार वर्ष	—	दौड़ना

तीन-चार महीने में बच्चा अपना अँगूठा चूमने लगता है जिससे उसकी भूख की सहज वृत्ति (Hunger-instinct) मालूम पड़ती है। इसी समय वह उलटने भी लगता है।

कर पग गहि, अँगूठा मुख मेलत

× × ×

एक पाख त्रय मास को मेरो भयौ कन्हाई,
पटकि रान उलटौ परयौ, मैं करी बधाई ॥

बालक पाँच-छह महीने में किलकने लगता है। उसका वर्णन भी कवि ने किया है। अब कन्हाई प्रायः एक साल का होनेवाला है, अतः माता-पिता उसे चलना सिखलाते हैं—

सिखवति चलन जसोदा मैया,
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाय धरनी धरै पैया।

× × ×

गहे अँगुरिया ललन की, नंद चलन सिखावत,
अरबराइ गिरि परत हैं, कर टेकि उठावत
बारबार बकि स्याम सौं, कछु बोल बुलावत,
कबहुँ कान्ह-कर छाँडि नंद, पग द्वैक रिंगावत।
कबहुं घरनि पर बैठि कै, मन में कछु गावत,
कबहूं उलटि चलैं धाम कौं, घुटरनि करि धावत॥

इस तरह यशोदा और नन्द कन्हैया को चलना सिखलाते हैं। कभी-कभी छोड़ भी देते हैं कि बच्चे में आत्मविश्वास (Self-confidence) दृढ होता जाय। भाषणविकास के लिए यह आवश्यक है कि अभिभावक बीच-बीच में बोलते रहें। इसी समय बच्चों के दाँत भी उग आते हैं, जिससे उनकी सुन्दरता में चार चाँद लग जाते हैं। अब तो मोहन और बड़ा हो गया है, माँ दही मथती है और वह उसकी आवाज पर नाचता है, अटपटी वाणी में बातें करता है। शारीरिक विकास की सूक्ष्मताओं का ऐसा मनोयोगपूर्वक वर्णन अत्यन्त दुर्लभ है।

बालक में औत्सुक्यप्रवृत्ति (Inquisitiveness) रहती है। वह चाहता है कि शीघ्र उसकी चोटी बढ़ जाय, गोपाल कहता है—

मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी,
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूं है छोटी,
तू जो कहति बल की बेनी ज्यौं, ह्वैहै लाँबी-मोटी।
काढ़त गुहत-न्हवावत जैहै नागिनि-सी भुँइ लोटी।
काँचौ दूध पियावति पचिपचि, देति न माखन रोटी।
सूरज चिरजीवी दोउ भैया, हरिहलधर की जोटी।

तू जो यह कहती है कि तुम्हारी चोटी भी भैया की चोटी की तरह लम्बी और मोटी हो जायगी और कघी करते, गूँथते तथा स्नान कराते समय सर्पिणी के समान धरती पर बलखाने लगेगी—वह बात सच्ची नहीं लगती। हठ करके कच्चा दूध पिलाती है, मक्खन-रोटी देती नहीं। भला कच्चा दूध हरवक्त पिलाने से कहीं चोटी बढ़ती है? इस तर्क के सामने तो हतप्रभ होकर भी मोद ही मोद है।

बालकों की दूसरी प्रवृत्ति है **अभियोग** की। वे अपने अभिभावकों के समक्ष अपने छोटे-बड़े के प्रति नालिश करने से बाज नहीं आते। श्यामसुन्दर कहते हैं—मैया मुझे दादा ने बहुत चिढ़ाया है। क्या करूँ इसी रिस के मारे मैं खेलने नहीं जाता। वे कहते हैं" तेरी माता कौन है? तेरे पिता कौन हैं? यशोदा मैया तो दपदप गोरी हैं, नंदबाबा भी बिल्कुल गोरे और तू कैसे साँवला हो गया?" चुटकी देकर ग्वाल बाल मुझे नचाते हैं, मुझपर हँसते हैं। और एक तू है जो मुझी को मारने में उस्ताद हो गयी है, भैया को कुछ कहती ही नहीं। सूरदास ने इसी बालवृत्ति का बड़ा ही मनोहर चित्रण किया है—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ
मोसों कहत मोल कौ लीन्हों, तू जसुमति कब जायौ?
कहा करौं इहि रिस के मारें, खेलन हौ नहिं जात,
पुनि पुनि कहत कौन है माता, कौन है तेरौ तात।
गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।
तू मोही कौ मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै।

बालकों के लिए क्रीडा का बहुत महत्त्व है। क्रीडा से केवल शारीरिक शक्ति का ही नहीं, वरन् इसके द्वारा मानसिक शक्ति का भी विकास होता है। क्रीडा के इतर लाभ में मनोरंजन, चारित्रिक निर्माण, सामाजिक अभियोजन एवं प्रतिद्वन्द्विता भाव भी है। यह माना कि क्रीडा निरुद्देश्य क्रिया है, किन्तु इन लाभों के कारण सोद्देश्यता भी सिद्ध है।

महाकवि के श्रीकृष्ण खेल में हारना नहीं चाहते। महत्त्वाकांक्षी अपनी पराजय से ही चिढ़ता जाता है। श्रीकृष्ण जब देखते हैं वे ऐसे नहीं जीत रहे हैं तो मनमानी करते हैं। प्रतिद्वन्द्वी भाव (Competitive instinct) तथा स्वसत्त्व स्थापन (Assertive instinct) से पूर्ण एक पद देखें—

खेलत बनै घोष निकास
सुनहु स्याम, चतुर सिरोमनि, इहिंहै घर पास॥
कान्ह हलधर बीर दोऊ, भुजा बल अति जोर॥
सुबल, श्रीदामा, सुदामा, वै भए इक ओर॥
और सखा बँटाइ लीन्हे गोप बालक वृंद।
चले ब्रज की खोरि खेलत, अति उमँगि नद नंद॥

घटा धरनी डारि दीनौ, लै चले ढरकाइ ॥
आपु अपनी घात निरखत, खेल जम्यौ बनाइ ॥
सखा जीतत स्याम जाने, तब करी कछु पेल ॥
सूरदास कहत सुदामा, कौन ऐसो खेल ॥

खेल व्यक्तित्व विकास में भी बड़ा सहायक है। यदि बालक बार-बार पराजित हो जाय तो उसके मन में निराशा का भाव (frustration) उत्पन्न होगा। निराशा के साथ कुंठा (Suppression) का पनपना भी स्वाभाविक है। अत कुंठाहीन व्यक्तित्व के लिए बालक की तीसरी वृत्ति है अनुकरण की (Imitative instinct)। यदि वह किसी को झगड़ते देखता है, तो स्वय भी उसी तरह पाँव घसीटकर चलता है। कन्हैया में यह प्रवृत्ति दर्शनीय है। जब उसकी माँ गाती है, तो वह भी गाने लगता है। जब माँ तालियाँ बजाती हैं तो वह भी तालियाँ बजाने लगता है—

जसुमति गान सुनैं स्रवन, तब आपुन गावैं।
तारी बजावत देखई, पुनि आपु बजावै ॥

चौथी प्रवृत्ति है खिलौना लेने की। वह खिलौना के लिये बहुत ललकता है। औरत को जिस तरह आभूषण प्रिय है, विद्वानों को पुस्तक, उसी तरह बच्चा खिलौने के नाम पर कुछ भी भूल जा सकता है। वह दूर में रखन या टँगे हुये खिलौने से सतोष नहीं करता। हाथ में लेकर उसे दबोचकर बलात् मुँह में ढकेलकर मनमौजी ढग से क्रीड़ा करना चाहता है। स्याम भी खिलौना लगा। पानी के भीतर का चन्द्रमा उसे नहीं चाहिये, वह तो बाहरवाले चाँद को ही उछलकर पकड़ेगा। पानीवाला चद्रमा पकड़ने के प्रयास के समय झलमल झलमल करता है। भला उसे वह कैसे पकड़ सकेगा? किन्तु आकाशी चद्रमा तो बहुत पास दीखता है, बरजने पर भी उसे पकड़ ही लेगा। देख लिया उसने अपनी माँ का प्रेम कि एक चाँद भी नहीं पकड़कर देती !

मैया री मैं चद लहौंगौ।
कहाँ करौं जलपुट भीतर कौ, बाहर ब्यौंकि गहौंगौ ॥
यह तौ झलमलात झकझोरन, कैसे कैउ लहौंगौ।
वह तौ निपट निकटहीं देखत, बरज्यौ हौं न रहौंगौ ॥
तुम्हरौ प्रेम प्रगट मैं जान्यौ, बौराएँ न बहौंगौ।
सूर स्याम कहै कर गहिल्याउ, ससितन दाप रहौंगौ ॥

ऐसे प्रसग तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी उठाये हैं। वैसे तो तुलसी का बालवर्णन रूपवर्णन प्रधान है फिर भी 'कबहुँ ससि माँगत आरि करे, कबहूँ

प्रतिबिम्ब निहार डरे" में केवल अन्य पुरुष की प्रतिक्रिया है, बालक की निजी चेष्टा का आकलन नहीं। चन्द्र-याचना को रविबाबू ने भी सविस्तर प्रस्तुत किया है।

आमी सुधू बोसेछिलाम
कदम गाछेरे डाले।
पूर्णिमा चाँद आटका पड़े
जखन संध्या काले।
तखन कि केउ तारे
धरे आनते पारे ?
सुने दादा हेसे केनो
बोलले आमाय खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका।
चाँद जे थाके अनेक दूरे
केमन करे छुइ।
आमी बोली दादा तुमि
जानो न किच्छुई।
मा आमादेर हासे जखन
ओइ जानलार फाँके।
तखन तुमि बोलबे कि माँ
अनेक दूरे थाके।
तबू दादा बल आमाय खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका॥
दादा बले "पाबा कोथाय
अत बड़ फाँद ?"
आमी बोली, "केम दादा
ओइ तो छोटो चाँद,
दुटी मुठाय ओरे
आनते पारी धरे।"
सुने दादा हँसे केमो
बोलले आमाय खोका
'तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका'
चाँद यदि एइ काछे आसतो
देखते कतो बड़ो।
आमी बोली कि तुमी छाई
इस्कूले जे पड़ो।
मा आमादेर चूमो खेते
माथा करे नीचू।

तखन कि मार मुखटी देखाय
मस्त बड़ो किछू"
तबू दादा बले आमाय 'खोका
तोर मतो आर देखी नाइ तो बोका"

इस दीर्घ कविता में जो लॉजिसियन की तरह तर्क दिये गये हैं या वकील की तरह बहस की गयी है, वह शिशुसुलभ कम दीखता है। प्रौढ कवि की तर्कना शिशु के मस्तिष्क पर प्रक्षिप्त-सी लगती है।

मैक्डूगल ने प्राणियों में ये मूल प्रवृत्तियाँ मानी है—भोजन खोजना (food seeking), संग्रह, अरुचि, पलायन, स्नेहाकांक्षा, रचना, उत्सुकता, आत्मप्रकाशन, विनम्रता, याचना, कामभावना, तथा हँसना।

सूर के बालक में ये सारी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती है। भोजन का वर्णन अनेक पदों में किया गया है। शिशु कुछ महीनों तक माँ का दूध पीता है, फिर उसे गाय का दूध दिया जाता है। प्राकृतिक चिकित्सक स्वास्थ्य के लिए सर्वाधिक हितावह धारोष्ण दुग्ध मानते हैं। यशोदा अपने दुलारे को धारोष्ण दूध ही वर्षों तक पिलाती रहती है। फिर धीरे धीरे मुलायम रोटी, दूध भात आदि पदार्थ दिये जाते हैं; उनसे बड़ा होने पर मक्खन जैसा गरिष्ठ पदार्थ। मक्खन घी से अधिक लाभदायक है, इसमें उसका विटामिन नहीं जल पाता है। कन्हैया की मासपेशियाँ तो दूध, दही, मक्खन पर परिपुष्ट और बलिष्ठ होती हैं। सात्विक चरित्र-निर्माण के लिए सात्विक भोजन भी आवश्यक है। गीता कहती है—

आयु: सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना।
रस्या स्निग्धा स्थिरा हृद्या आहारा सात्विकप्रिया॥

जबतक अम्ल, तिक्त, काषाय रसों के लिए हमारी जिह्वा अभ्यस्त नहीं होती तबतक उनके प्रयोग से जिह्वा को कष्ट होता है। बच्चा लाल-लाल मिर्चे देखता है। लाल रग के प्रति उसका जन्मजात आकर्षण रहता है। वह झट से मुँह में रख लेता है। दाँत पड़ते ही इस तरह फेंकता है जैसे अंगार पड़ गया हो। कवि की सूक्ष्मेक्षिणी दृष्टि देखें—

जेंवत कान्ह नंद इकठौरे।
कछुक खात लपटात दोउकर, बालकेलि अति भोरे॥
बरा कौर मेलत मुख भीतर, मिरिच दसन टकटौरे।
तीछन लगी नैन भरि आए, रोवत बाहर दौरे॥
फूँकति बदन रोहिनी ठाढ़ी, लिए लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम कों मधुर कौर दै कीन्हे तात निहोरे॥

शिशु के पूर्ण विकास के लिए योग्य माता-पिता सभी पक्षों पर ध्यान देते ही हैं। यशोदा का बेटा किसी से उन्नीस नहीं, बल्कि वह तो सबका सरदार है, वह बराबर उन्हें प्रोत्साहित (Cheer-up) करती रहती हैं, ऐसा नहीं हो कि उसका बालक हीनता-ग्रन्थि (Inferiority Complex) से ग्रस्त विस्लाग व्यक्ति बन जाय।

सूर के श्यामसुन्दर नागर वातावरण में पलनेवाले नहीं, वरन् ग्रामीण वातावरण में पलने वाले बालक हैं। अपनी सभ्यता और वृत्ति के अनुसार ही पिता अपने पुत्र को शिक्षित करना चाहता है। नंद, पशुपालन-सभ्यता (Pastoral Civilization) के अंग हैं, अतः अपने बालक को गोचारण एवं दुग्ध-दोहन की शिक्षा देना अपना धर्म समझते हैं और बालक भी रात्निदिव ऐसी घटना को देखने का अभ्यासी होने के कारण उसमें अधिक रुचि भी लेता है। श्रीकृष्णचंद्र कहते हैं—

> बाबा मोकौं दुहन सिखायौ।
> तेरैं मन प्रतीति न आवै, दुहत अँगुरियनि भाव बतायौ।
> अँगुरी भाव देखि जननी तब हँसि कै स्यामहिं कंठ लगायौ॥
> आठ बरष के कुँवर कन्हैया, इतनी बुद्धि कहाँ तैं पायौ॥

आठ वर्ष के कन्हैया में पूर्णतः बुद्धि का विकास हो गया है। शिक्षक समान रूप से शिक्षा का वितरण करता है किन्तु, जो प्रतिभासम्पन्न होते हैं, उसे शीघ्र ग्रहण करते हैं। भवभूति ने उत्तररामचरितम् में इसी को इस प्रकार व्यक्त किया है—

> वितरति गुरु प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जड़े
> न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
> भवति च तयोर्भूयान् भेद फलं प्रति तद्यथा
> प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदांचयः।

मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धिपरीक्षा के आधारपर बुद्धि-उपलब्धि (Intelligence quotient या I. Q.) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। १४० या इससे अधिक बुद्धि उपलब्धि वाले को प्रतिभाशाली (Genius) मानते हैं। उसके नीचे प्रखर-बुद्धि (*Very Superior*), तीव्र बुद्धि (Bright), सामान्य बुद्धि (Normal), मन्द बुद्धि (Dull) निर्बल बुद्धि (Barderline), मूढ (Moron), मूर्ख (Imbecile) तथा जड़ (Idiot) बतलाया है। बुद्धिविकास के सारे सहायक तत्त्व यानी वंशानुक्रम (Heredity), स्वास्थ्य (Health), भोजन (Food) तथा वातावरण (Environment) सब कृष्णचंद्र को ऐसे प्राप्त हुये हैं कि वे सचमुच इतनी कुशाग्रबुद्धि के हैं कि उनकी उपलब्धि १४० क्या, बहुत गुना हो सकती है यदि उनकी जाँच की जाती या सूर के वर्णन से हिसाब बैठाया जाय।

मोहन के व्यक्तित्व का गठन भी बडा चकितकर है। दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक बहिर्निष्ठ (Extrovert), दूसरा अंतर्निष्ठ (Introvert)। बहिर्निष्ठ व्यक्ति समाज का अजीज, नेता होता है। वह सबसे बुद्धि, विद्या, त्याग, शक्ति में असमानातर होते हुए भी सबके साथ विनयपूर्वक सम्बन्ध निर्वाह करता है।

सूर कहते हैं—

> आजु बने बन ते ब्रज आवत।
> नाना रग सुमन की माला, मदनन्दन उरपर छबि पावत।
> सग गोप गोधन गम लीन्हे, नाना गति कौतुक उपजावत।
> कोइ गावत, कोइ नृत्य करत, कोइ उघटत, कोइ करताल बजावत।

ग्वाल बालों को सानन्द साथ लिये श्रीकृष्ण का आना उनके सामाजिक अभियोजन (Social Adjustment) का ही प्रमाण प्रस्तुत करता है।

इस तरह नन्द बाबा के यहाँ बालक श्रीकृष्ण का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। उनमें शक्ति साहस, सद्बुद्धि, शिक्षा का ही समन्वय नहीं, बल्कि उनमें वे भाव भी कूट-कूटकर भर गये जिसके कारण कोई व्यक्ति राष्ट्रकर्णधार, राष्ट्रप्रेमी बनकर विश्वभर की सहानुभूति का भाजन बन जाता है। वह व्यक्ति किस काम का जो शक्तिहीन, क्लीव, कापुरुष है? किन्तु वह शक्ति भी किस काम की जो सकटापन्न के सेवार्थ न आ सकी?

जब ब्रज की दशो दिशाओं में दुःसह दावाग्नि उपजी, तो बाँस पटापट शब्द करते फटने लगे, जलते काश कुश चटापट करने लगे, ताल तमाल जलने लगे, अगारे उचटन लगे, कराल लपटें लपटने लगीं, धुँए का अँधकार अवनि से अवर, तक फैल गया, हरिन, बाराह, मोर, चातक जल जलकर बेहाल होन लगे तो ग्वाल-बालों ने होंक लगायी "अब कैं राखि लहु गोपाल।" जब इद्र सगर्व प्रलय-मेघ बरसाने लगा तो आठ दिनों तक एक क्षण भी थमने का नाम भी नहीं लेता। सारा ब्रजमडल जलप्लावन में डूबने इतराने लगा। जान बचने की तनिक भी जब आशा न रही तो गोप ग्वालों ने गुहार मचायी "राखि लियौ ब्रज नन्द किशोर" और सबल-समर्थ नद किशोर ने दावानल और इद्र का पल भर में मान विमर्दन किया।

जन्म से व्यक्तित्वगठन का ऐसा सागोपाग मनोवैज्ञानिक वर्णन महाकवि सूर ने किया है कि विस्मय विमुग्ध होना पड़ता है। विश्व-साहित्य तो सचमुच बड़ा ही अगाध है, किन्तु विश्व के कुछ महान् कवियों में शेक्सपियर, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बालवर्णन को पढ़ने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है, किन्तु महाकवि सूरदास इस क्षेत्र के अवतंस सूर हैं, बेहिचक कहना पड़ता है।

तुलसी का समन्वयवाद

आंग्ल विद्वान् एच० एच० विल्सन तथा जार्ज ग्रियर्सन, फ्रांसीसी विद्वान् गार्सा द तासी तथा डु० बोटविल, इटालियन विद्वान् एल० पी० टेसीटरी, रूसी विद्वान् बरान्निकोव, संस्कृत विद्वान् प० मधुसूदन सरस्वती तथा हिंदी के विद्वान् महाकवि हरिऔध, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि ने महाकवि तुलसीदास की भूरिभूरि प्रशंसा की है। इन विद्वानों की दृष्टियों में तुलसीदास समग्र संसार के उँगली पर गिने जाने वाले सर्वाधिक जनप्रिय महाकवियों में हैं। गोस्वामी तुलसीदास की महत्ता एवं लोकप्रियता के अनेक कारण हो सकते हैं, किंतु एक स्पष्ट कारण उनका समन्वयवाद ही है।

तुलसी का युग ही सौ-सौ समस्याओं से काँपता हुआ एक विलक्षण कोलाहलपूर्ण युग था। अकबर और जहाँगीर का शासन काल था। हिन्दू तलवार की ताकत पर मुसलमान बनाये जा रहे थे। समाज में ऊँच-नीच के बीच की खाई बढ़ती जा रही थी। स्त्री के देहान्त या सम्पत्ति-नाश पर संन्यासी हो जाना मामूली बात थी।

नारि मुई, गृह संपति नासी।
मूड़ मुड़ाइ होंहि संन्यासी।

उपासना के क्षेत्र में शिव का भक्त राम का द्रोही समझा जाता था और राम का भक्त शिव का द्रोही। कबीर आदि संतों ने निर्गुण ब्रह्म को ही मान्यता प्रदान की थी। जिस समय अलख जगानेवाले योगियों की भरमार थी, सूफियों का प्रेमतत्त्व उत्तरापथ में गूंज रहा था; उसी समय रामानन्द ने जाति-पाँति के बखेड़े को बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया था। रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी आदि महात्माओं के विभिन्न सम्प्रदाय चल पड़े थे। धर्म, समाज, दर्शन, राजनीति, आचार-विचार, सर्वत्र विशृङ्खलता दिखलाई पड़ती थी। निःसंदेह इस समय एक ऐसे नरपुंगव की आवश्यकता थी जो इन परस्परविच्छिन्न तथा दूर-विप्रकृष्ट द्वन्द्वों को एक सूत्र में अनुस्यूत कर सके।

तुलसी युग की इसी आकुल आतुर पुकार की उपज थे। उन्होंने जमाने की नब्ज पहचानी थी। कारण, उन्हें समाज के भिन्न-भिन्न स्तरों में रहने का भी मौका मिला था। उनका समस्त काव्य इन सभी मत-मतान्तरों तथा दार्शनिक सम्प्रदायों को आयत्त कर लेता है। मानस के सर्वप्रथम रचयिता शिव ही हैं; इतना ही नहीं,

विनयपत्रिका के 'हरि-शंकरी' पद में शिव और राम में अभिन्नता स्थापित की गयी है। तुलसी सभी देवी-देवताओं की वंदना करते हैं और वेदविरोधी बुद्ध को भी नहीं भूलते दीखते। सगुण और निर्गुण ब्रह्म में वे कोई भेद नहीं मानते।

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा,
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।

अगुण ब्रह्म ही विप्र, धेनु, सुर, संत हित के लिए सगुण रूप धारण करता है।[१] उनके राम अप्रतिम सौंदर्य, अविचल शील एवं अपरिमित शक्ति के आगार हैं जिनकी विशालता में निर्गुण ब्रह्म तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम सभी समाहित हो जाते हैं।

जरा हम रामायण के चार घाटों की ओर दृष्टिपात करें तो बात स्पष्ट हो जायगी। मानस की कथा के चार वक्ता (१) शिव, (२) काकभुशुंडि, (३) याज्ञवल्क्य और (४) तुलसी स्वयं हैं तथा चार श्रोता (१) पार्वती, (२) गरुड़, (३) भारद्वाज और (४) सुजन हैं। ये चारों देव, पक्षी, ऋषि एवं मनुष्य चार योनियों के प्रतिनिधि हैं। रामचरित तथा रामचरितमानस की यही विशेषता है कि इसके पात्र पशु-पक्षी से देवता तक हैं। इसका आधारफलक इतना विस्तीर्ण है कि यह अपने में चराचर विश्व को संपुटित कर लेता है। इतना ही नहीं, इन चारों घाटों के माध्यम से दर्शन और भक्ति के चार पक्ष उद्घाटित हुये हैं जिनका संयोजन मानससर की रूपकात्मकता को सार्थक करता है। प्रथम घाट में विशिष्टाद्वैत है जो ज्ञानपरक कहा जा सकता है, द्वितीय में द्वैताद्वैत है जो उपासनापरक कहा जा सकता है, तृतीय में शुद्धाद्वैत है जो कर्मपरक कहा जा सकता है और चतुर्थ में अद्वैत है जो शिवपरक कहा जा सकता है।

वास्तव में तुलसी का धर्म रामभक्ति है जिसमें शैव और शाक्त, गोरखपंथी और सूफी संत, स्मार्त और पुष्टिमार्गी—सभी अपनी भावनाओं का सामंजस्य पाते हैं।

तुलसी की भक्ति-साधन और साध्य की संधिभूमि है। वह वैधी और रागानुगा—दोनों का शुभ संयोग है। अगर पहली सामान्य जनता के लिए है तो दूसरी ऊपर उठी हुई आत्माओं के लिए। अगर एक में श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन आदि नौ बाह्यविधानों के द्वारा इष्टदेव की पूजा की जाती है तो दूसरी में वह दीनता,

---

१. विप्रधेनु सुर संतहित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गोपार॥

मानमर्पता, भर्त्सना, भयदर्शना, मनोराज्य और विचारण, सात भूमिकाओं द्वारा अपने अन्तस् और आत्मा की सारी आर्द्रता, मधुरता, तन्मयता एवं उत्कटता सादर समर्पित कर देता है।

तुलसी का सामाजिक आदर्श साधुमत तथा लोकमत का सफल समन्वय है। प्रह्लाद पितृ-द्रोही है परन्तु उन्होंने उसका पक्ष-समर्थन भक्ति की प्रस्थापना के लिये किया। जैसे—

जाके प्रिय न राम बैदेही।

सो त्यागिये कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही

तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषन बन्धु, भरत महतारी।

बलि गुरु तज्यो, कन्त ब्रज बनितन, भे मुदमंगलकारी।।

वहीं राम का कैकेई की ओर निर्विकार रहना लोकमत की पुष्टि का प्रमाण है।

तुलसी का मानस सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति तथा लोक-जीवन का आकाशदीप है। 'भाषाभनिति' को देवभाषा की गरिमा प्रदान करना ही उनकी कला निपुणता का परिचायक है। रामचरित मानस सिर्फ 'नाना पुराण निगमागम' ही नहीं, वह स्वान्तः सुखाय भी है। इसमें कर्तृप्रधान (Subjective) तथा कर्मप्रधान (Objective) काव्य के गुण विद्यमान हैं, हालाँकि उनकी कर्तृप्रधान रचना की दृष्टि से विनय-पत्रिका, गीतावली तथा हनुमान-बाहुक ही विशेष उल्लेखनीय हैं। महाकाव्य के बाह्य वस्तुचित्रण में तो तुलसी ने सौंदर्य-बोध, मात्राबोध एवं प्रातिभ ज्ञान की समष्टि कर आशान्वित सफलता प्राप्त की है। जहाँ तक महाकाव्य के आंतरिक पक्ष का प्रश्न है, इसमें महत् चरित्रचित्रण, महत् अनुष्ठान तथा सामूहिक लोक-संस्कृति का संगुम्फन तो द्रष्टव्य ही है। तात्पर्यनिर्णय के छः तत्त्व उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति की दृष्टि से तो कुछ विद्वान् इसे पुराण की आख्या प्रदान करने में तनिक भी झिझक का अनुभव नहीं करते।

इसके अतिरिक्त इसका रूपकात्मक पक्ष तो और भी अलौकिक है। रामायण के करीब-करीब सभी पात्र दुहरा व्यक्तित्व रखते हैं। भक्ति के साथ सीताजी का, भक्त के साथ भरतजी का तथा गुरु के साथ शंकरजी का तादात्म्य खूब बैठता है। रावण असुर प्रवृत्तियों का प्रतीक है जो सीता-स्वरूपिणी भक्ति को दूषित करने की इच्छा से उन्हें महामोह-रूप लंका ले जाता है। रावण को शेक्सपीयर के इयागो, मिल्टन के शैतान तथा गेटे के मेफिस्टोफिलिस से बड़ी सुगमता के साथ उपमित किया जा सकता है। राम सत्, सनातन तथा निर्विकार प्रवृत्तियों के प्रतीक ऐसे प्रकाश पुंज हैं जिनके विरोधी होने पर तम का नाश तो स्वाभाविक ही है, कोई दुष्ट परतु का भी पा जाना असंभव

नहीं। अत तुलसी का मानस एक ही साथ काव्य, धर्म ग्रन्थ, रूपक, पुराण—सब कुछ है।

अब जरा उनकी भाषा की ओर ध्यान दें। भावपक्ष एव कलापक्ष का ऐसा मणि काचन-सयोग तो भारतीय साहित्य में कदाचित् ही दीख पड़ेगा। व्रजभाषा तथा अवधी, दोनों भाषाओं को समान सौकर्य के साथ व्यवहृत करनेवाले वे अपनी तुलना में आप ही हैं। मँजी हुई व्रजभाषा का उदाहरण यदि विनयपत्रिका है तो अवधी का उदाहरण मानस। उन्होंने मानस के प्रत्येक काड के आरभ तथा ग्रन्थ-इति पर सस्कृत श्लोकों का प्रयोग कर सम्कृतस्तोत्राभिरुचि वाले विद्वानों की पिपासा शात की। साथ-ही साथ इसके द्वारा वे यह भी सिद्ध करना चाहते थे कि जिस भाषा में हम अपने ग्रन्थ का निर्माण कर रहे हैं, वह मूल से पृथक् नहीं है।

भाषा के साथ भाव का, रस के साथ गुण का, शब्द के साथ अर्थ का और अलकार के साथ शब्द-शक्तिया का मेल यदि देखना हो तो विश्व के काव्य ग्रन्थों में तो स्यात् नहीं, किन्तु मानस में सर्वत्र उपलब्ध है। जहाँ कवि शाति का उपदेश देना चाहता है वहाँ आप सस्कृत साहित्य में प्रचलित अनुष्टुप छद देख सकते है, जहाँ शौर्य, तेज, काति तथा दीप्ति का वर्णन है वहाँ शार्दूलविक्रीडित की कुर्लाँच दिखाई पड़ती है, जहाँ वीरोचित चपलता से आप उत्तेजित हो गए हों वहाँ वीरगाथाकालीन छप्पय का ऊर्जस्वल तेज दीख पड़ता है, जहाँ कथा क्रम में आप अनायास बह रहे हों वहाँ प्रेममार्गी कवियों के दोहे-चौपाई की मनोहारिणी छटा दीखती है, जहाँ श्रुति पेशल पदों के द्वारा आप अपने आकुल प्राणों की पिपासा शात कर रहे हों वहाँ कृष्ण भक्त कवियों के विनय पद वाली शैली निर्वेद जाग्रत करने में समर्थ दीखती है और जहाँ सामान्य ग्राम गीतों का आनन्द उठा रहे हो वहाँ उनकी लोक प्रचलित परिपाटी का नहछू पाठक को रुचिकर प्रतीत होता है।

तुलसी की समस्त साधना महान् समन्वयात्मक प्रयास है। उनमें अगर एक ओर वेद, वेदान्त, गीता भागवत एव मध्यकालीन सतों महात्माओं के विचारों के सार सकलित हैं तो दूसरी ओर वाल्मीकि व्यास, कालिदास, स्वयभू, जायसी आदि वरेण्य कवियों की काव्य कलायें सम्मिलित कर ली गई है। साम्प्रत युग के गाँधी के सत्याग्रह तथा विनोबा के सर्वोदयवाद के राजनीतिक एव सामाजिक स्वर मुखरित कर, महाकवि तुलसी ने भावी भारतीय जीवन का सच्चा सुखात्मक सकेत कर, 'मानस' को आप्तता तक उठाकर अनिर्वचनीयता का आनन्द प्रदान किया है।

गीतांजलि और विनयपत्रिका : तुलनात्मक विवेचन

साम्य और वैषम्य-प्रदर्शन साहित्यालोचन के दो अमोघ अस्त्र माने गये हैं। इन्हीं अस्त्रों का प्रयोग कर आलोचक किसी भी कृति का वास्तविक मूल्यांकन कर पाता है। तुलसी और रवीन्द्र में कालगत-अंतराल भले हो, किंतु भावनागत अंतराल कभी हो ही नहीं सकता। भारतवर्ष में जो भक्ति-सरिता ऋग्वेद से प्रवाहित हुई, वह तुलसी से होते हुए रवीन्द्र तक निर्बाध गति से पहुँच गयी है।[1] अतः निष्णात भक्त के रूप में तुलसी और रवीन्द्र समान सम्मानार्ह हैं।

गीतांजलि और विनयपत्रिका में भी आश्चर्यजनक साम्य है। क्या नामकरण, क्या भावसंपदा, क्या शिल्पयोजना—सब में एक प्रगाढ़ एकसूत्रता के दर्शन होते हैं। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि स्वयं प्रभु प्रत्येक युग में अपने एक आत्मीय भक्त को इस संसार में भेजता है जो अपने गीतों के नीराजन से उसका मंदिर आलोकित करता रहता है और इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं कि प्रभु की असीम अनुकम्पा के दिव्य गीत गाने के लिए मध्ययुग में तुलसी और आधुनिक युग में रवीन्द्र का अवतरण हुआ।

गीतांजलि का अर्थ है—गीतों की अंजलि। साधारण सामान्य भक्त अपनी अंजलि में पुष्पादि लेकर प्रभु के चरणों पर अर्पित करता है। कवि साधारण पुजारी नहीं है। वह अनुभूति-प्रवण विशिष्ट कवि है, इसलिए अपने गीतों के सुरभित सुमनों को ही अपने आराध्य के चरणों पर समर्पित करता है। स्वयं उसका प्रभु इन गीतों को पुष्पवत् खिला देता है और इन फूलों को इस प्रकार प्रफुल्ल देखकर वह आनन्दोन्मत्त हो जाता है और उनके चरणों पर अर्पित करने के लिए उनके समीप चला जाता है। उसका नाथ इन फूलों को ग्रहण कर ले, यही एक मात्र उसकी लालसा है। पूजनोपरांत ये पुष्प धरती की धूल में मिल भी जायें, तो परवाह नहीं। जो विराट् अपने हाथों से सकल संसार का विपुल ऐश्वर्य लुटाता है, उसी के हाथ से ये गीत-पुष्प विनष्ट हो जायें, तो चिंता नहीं। ये गीत कवि के जीवन में पलभर खिलकर उसके प्राणों को कृतार्थ कर जाते हैं, क्या यही पुरस्कार उसके लिए कम है।[2]

---

१. रवीन्द्रनाथ टैगोर का दर्शन. डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ५५।

२. गीतांजलि, गीत सं० १०६

अत: गीतों के पुष्प, जो कवि की आत्मा की रस-गंध से पूरित हैं, की अंजलि आराध्य के चरणों पर समर्पित की जा रही है और यही गीतांजलि की संज्ञा-सार्थकता के लिए अलम् है।

तुलसी भी कलियुग के ताप एवं अपनी 'कुचालि' से बड़े संतप्त एवं पीड़ित हैं। अपने आत्ममथन निःसृत गीतों को पत्रिका का रूप देकर अपने भगवान् के समक्ष उपस्थित करना चाह रहे हैं। जिस प्रकार रवीन्द्र की एक मात्र कामना है कि उसका प्रभु उसके पुष्पोपहार को अवश्य स्वीकृत कर ले, उसी प्रकार तुलसी की अभिलाषा है कि उसका भगवान् उस पत्रिका को तिरस्कृत न करे, वरन् स्वयं उस दीन की पत्रिका को 'बाँचकर' उसे अंगीकृत करे।[1]

गीतांजलि के भाव विकास के तीन सोपान स्पष्टतया दृष्टिगोचर होते हैं। हम गीतांजलि की सभी कविताओं को इन्हीं के अंतर्गत रख सकते हैं—

१. आत्मानुभूति (सेल्फ रियलाइजेशन)
२. शुद्धीकरण (प्यूरीफिकेशन)
३. मिलन (यूनियन)

१ आत्मानुभूति—मनुष्य जब भक्त की स्थिति में पहुँच जाता है, तब उसे अपनी यथार्थ स्थिति का ज्ञान होने लगता है। भक्त जबतक आत्म-साक्षात्कार नहीं करता, आत्मान्वेषण नहीं करता, तबतक वह ईश्वर की ओर उन्मुख हो ही नहीं सकता। गीतांजलि के अनेक पदों में यह स्थिति दर्शनीय है।[2] इस संसार में उसे अन्य कार्य न करके केवल उसी का गीत गाना है। किंतु बिना उसकी अनुभूति के गाना संभव नहीं। उसके ये निरुपयोगी प्राण केवल उसके प्रति गीतों में व्यक्त हो पायें, तो कृतकृत्य हो जायगा।[3] वासनाएँ उसके मन को भटकाती रहती हैं—

> आर या किछु वासना ते
> धूरे बेड़ाई दिने राते
> मिथ्या से सब मिथ्या, ओगो,
> तोमाय आमि चाई   गीतांजलि ८८

---

१. विनयपत्रिका, पद सं० २७७।
२ मिस्टर टैगोर, लाइक दि इंडियन सिविलाइजेशन इटसेल्फ हैज़बीन कनटेन्ट टू डिसकवर दि सोल एण्ड सरेण्डर हिमसेल्फ टू इट्स स्पोनटे-नीइटी पृ०—१२। भूमिका, डब्ल्यू० बी० यीट्स, अंग्रेजी गीतांजलि।
३ गीतांजलि, गीत सं० ३१।

इतना ही नहीं, बल्कि दिन-भर के तुच्छ विचारों और मन के सहस्रों विकारों से उसका जीवन धूलि-धूसरित तथा मलिन हो गया है—

तुच्छ दिनेर क्लान्ति ग्लानि
दितेछे जीवन भुलाते टानि
सारा प्रहर वाक्य मनेर
सहस्र विकारे । —गीतांजलि ६६

और भी, वह कहता है कि उसकी वासनाओं की आग का कोई अंत नहीं है। उसका करुण-क्रन्दन भी असीम है।[1]

२. शुद्धीकरण :—आत्मा पापों से भरी है, किंतु परमात्मा निष्पाप है, ऐसा अनुभव कवि करता है। जब तक पापों का प्रक्षालन नहीं होता, उनका शुद्धीकरण नहीं होता, तबतक वह प्रभु द्वारा अपनाने योग्य भी नहीं होता। किंतु ये अहंकारादि तो प्रभु के दूर किये ही दूर हो सकते हैं। रवीन्द्र मनुष्यों को बाइबिल से भिन्न, जन्मना पापलिप्त मानते हैं, और इसलिए परिष्करण एवं मोचन की प्रार्थना करते हैं। गीतांजलि के प्रथम पद में उनका कहना है—

आमार माथा नत करे दाओ हे
तोमार चरन धूलार तले
सकल अहंकार हे आमार
डुबाओ चोखेर जले

वास्तव में उसके कल्मषों को देखकर सहानुभूतिवश उसके ईश्वर की आँखें भी छलछला आती हैं और वह उसी करुणा नीर से अपने अहंकार को धो डालने की विनती करता है। एक दूसरा पद देखें, जिसमें कवि पूतीकरण की प्रार्थना करता है—

अन्तर मम विकसित करो, अन्तरतर हे!
निर्मल करो, उज्ज्वल करो, सुन्दर करो हे!
जाग्रत करो, उद्यत करो, निर्भय करो हे!
मंगल करो, निरलस निःसंशय करो हे! —गीतांजलि ५

३. मिलन :—आत्मशोधनोपरान्त कवि अपने आराध्य से मिलने को उत्कंठित दीख पड़ता है। वस्तुतः यही ससीम और असीम का मिलन—दृश्य और अदृश्य का एकलन भक्ति-साहित्य का प्राणस्पंदन है। राधा-कृष्ण का

१. गीतांजलि, गीत सं०—२।

समागम और कुछ नहीं, वरन् आत्मा और परमात्मा के समागम का ही प्रतीक है। कवि की सान्द्र आत्मानुभूति ही राधा का रूप धारण कर भक्ति-साहित्य में उपस्थित हुई है। किंतु, रवीन्द्रनाथ ने अपनी अनुभूतियों को राधा नाम से प्रक्षेपित करने की आवश्यकता नहीं समझी है। वेदान्त का परम या केवल या भक्ति-काव्य का ईश्वर उसके समक्ष मानव रूप में उपस्थित हुआ है और उसके प्रति वह अपनी सम्मिलन-कामनाओं को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त करता है। दर्शन की उत्कंठा तो उसके मन-प्राणों को हर क्षण, हर पल विचलित करती है। यदि वह इस जीवन में उसे देख नहीं पाया तो यह लालसा उसके मन में काँटे की तरह चुभती रहेगी।[1] संसार की पण्यशाला में उसने कितने ही दिन बिता दिये, किंतु उसके दर्शन बिना सब कुछ व्यर्थ हुआ। उसी का विरहताप विश्व के कण-कण में व्याप्त होकर वन, पर्वत, आकाश तथा सागर के विविध रूपों में व्यक्त हो रहा है। और वही विरह-ताप उसके गीतों में ही पिघल-पिघलकर बह रहा है।[2] उसकी प्रतीक्षा में जाग्रत आँखें थक गईं, उससे भेंट न हुई। फिर भी, वह उसी का पथ निहार रहा है। पंथ निहारना भी उसे अतिप्रिय है। द्वार के बाहर धूल में बैठा उसका भिखारी-मन उसकी करुणा की याचना कर रहा है।[3] एक दिन वह अरुण-वर्ण का पारिजात हाथ में लेकर आया था, किंतु उस भाग्यहीन की आँखें लग गईं और वह चला गया।[4] किंतु आज बिजली की गड़गड़ाहट से उसकी नींद सहसा उचट गई है। उसी समय उसका नाथ आया है, अतः अब वह उससे न जाने का अनुनय करता है।[5] एक दिन तो ऐसा हुआ कि जब वह आया, तब दोनों साथ खेलते रहे। नाम-धाम, परिचय—कुछ भी नहीं पूछा गया। लज्जा और भय का लेश भी न रहा और जीवन आनन्दोल्लास की तरंगों में बहता रहा।[6] इस मिलन-बिछोह की आँख-मिचौनी तो शाश्वत है, इसलिए कवि उसे नाना रूपों में, गंध में, वर्ण में, शरीर में रोमांचित स्पर्श बनकर, मुँदे नयनों में आन को आमंत्रित करता है।[7]

---

१ यदि तोमार देखा न पाई प्रभु—गीतांजलि, गीत सं० २४।
२ हरि अहरह तोमारि विरह—वही, गीत सं० २५।
३. प्रभु तोमारि लागि आँखि जागे—वही, गीत सं० २८।
४ सुन्दर तुमि एसे छिले—वही, गीत सं०६७।
५ आमारे जदि जागाले आजि नाथि—गीतांजलि, गीत सं० ८१।
६ आमार खेला जखन छिलो—वही, गीत सं० ६८।
७ तुमि नव-नव रूपे एशो प्राणे—वही, गीत सं० ७।

ऐसे पदों में कवीन्द्र ने अपनी आत्मा को सुपक्व आम्र की तरह निचोड़कर रख दिया है। अतः यही वह निरंतर कामना है जो प्राणियों को सृष्टि के अथ से इति तक मथती रही है। यही कारण है कि इन कविताओं का रस-सागर कभी निस्तरंग नहीं हो सकता। इसी विवेचना के पृष्ठाधार पर हम तुलसी की विनय-पत्रिका को उपस्थित करें, तो देखेंगे कि तुलसी की विनयपत्रिका में भी भाव-मदाकिनी तथावत् प्रवाहित है।

तुलसी ने विनयपत्रिका के अनेक पदों में अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानने का प्रयास किया है। कवि कहता है कि हे मूर्खजीव! अब तू जाग। इस ससार रूपी रात्रि को देख। शरीर और परिवार का प्रेम ऐसा ही क्षणभगुर है, जैसे बादलों के बीच बिजली।[1] जब उसने अपने हृदय को देखा, तब लगा कि वह बड़ा ही विषयलंपट है, पाप की खान है। यदि यमराज सारे काम-काज छोड़कर उसके पापों तथा दोषों का हिसाब करना शुरू कर दें, तो भी उनकी गिनती सभव नहीं। और, उसकी पाप-गणना के समय अन्य पापियों के झुंड निकलकर भागने लगेंगे, तो काम करने में उन्हें बड़ी कठिनाई होगी।[2] इतना ही नहीं, अगर उसके मन, वचन तथा कर्मकृत कलुष को अमित शेष शारद गिनें, तो भी उनकी पराजय निश्चित है।[3] लेकिन, उसने जितने कदाचार किये हैं, उसका ज्ञान उसे हो गया है। अबतक उसने अपने को नष्ट किया है, अब नहीं करेगा। राम कृपा से भव-निशा बीत गई, जग जाने पर पुनः वह निद्रालीन नहीं होगा। उसने रामनाम रूपी चिंतामणि पा ली है, और उसे वह हृदय-रूपी हाथ से गिरने नहीं देगा। श्यामरूपी रुचिर कसौटी पर अपने चित्त को कंचन की तरह कसकर निष्कलुष सिद्ध करेगा।

आत्मबोध के उपरान्त ऐसे अनेक पद हैं, जिसमें तुलसी ने अपने पापोन्मोचन की प्रार्थना अपने प्रभु से की है। तुलसी का कथन है कि हे प्रभु! तुम सबके हृदय की स्थिति जानते हो। इसलिए छल से मुक्त करना तुम्हारा ही काम है। तुम्हीं सारे कर्मों के प्रेरक हो, अत जबतक तुम उन्हें नहीं रोकते, तबतक ये मानेंगे नहीं। तुम इन्द्रियों के स्वामी, हृषीकेश हो और यही सुनकर तुम्हारे पास आया हूँ। तुम इन बहकती इन्द्रियों को वश में कर लो। मिलन प्रसंग का उल्लेख विनय-पत्रिका में इस प्रकार से सभव नहीं है, जिस प्रकार से गीताजलि में। विनयपत्रिका की भक्ति दास्यभाव की है, जो पूर्ण स्पष्ट है, किंतु गीताजलि की पद्धति रहस्यवादी

१. विनयपत्रिका, पद स० ७३।
२. वही, पद सं० ६५।
३. वही, पद स० ६६।

दाम्पत्यभाव की है, जिसमें अस्पष्टता, धूमिलता अनिवार्यतः आ गयी है। विनय-पत्रिका में संयोग-कामना नहीं, वरन् शरणागति-अभीप्सा है। शरणागति में भक्त और भगवान् में एक पार्थक्य खाई रहती है; भक्त और भगवान् में अनिवार्य स्तर-भेद या धरातल-भेद रहता है। भक्त दीन है, तो भगवान् दानी; भक्त पाप-पुंज है तो भगवान् पाप-पुंज हारी; भक्त बिंदु है तो भगवान् सिंधु; भक्त सान्त है तो भगवान् अनन्त। रवीन्द्र का वह स्वरूप तुलसी का नहीं, जो साथ-साथ क्रीड़ा करते हैं, साथ-साथ समान प्रेम-विह्वल वाणी का आदान-प्रदान करते हैं। अतः रवि के कवि को अपने काम्य से मिलने में चरमानन्द मिलता है, तो तुलसी के कवि को उसके प्रभु द्वारा अंगीकरण की कल्पना में।

अबतक हमने देखा कि जहाँ तक भावधाराओं का प्रश्न है, गीतांजलि और विनयपत्रिका में साम्य अधिक है, वैषम्य अत्यल्प। इन गीतों के शिल्प-विधान और भाषा में भी चक्तिकर साम्य है। तुलसी और रवीन्द्र के गीतों को मात्रिक, वर्णिक या स्वरवृत्त के निकष पर कसना अनुचित ही होगा।[१] वैसे तो मात्रा या पर्व की दृष्टि से भी इन गीतों का अध्ययन संभव है, किंतु गीतों की छंदोयोजना संगीत शास्त्रीय अनुशासन में निबद्ध रहती है। गेयता की दृष्टि से ही मात्राओं की योजना की जाती है। गीतांजलि और विनयपत्रिका के गीत बिलकुल सांगीतिक हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर कुशल संगीतज्ञ और राग-नियोजक थे।[२] उन्होंने अपने गीतों की स्वर लिपियाँ बनाई हैं तथा उनका संस्करण भी स्वयमेव किया है। वे अच्छे गायक भी थे और अब भारतवर्ष में संगीत का स्कूल ही चल गया है, जिसे रवीन्द्र-स्कूल कहते हैं। तुलसी स्वयं गायक थे, स्वयं लिपिकार थे, संस्वर-कार थे—यह कहना कठिन है, किन्तु संगीत शास्त्र के बड़े पारखी तथा ज्ञाता थे, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है।[३]

गीता में भगवान् ने कहा है कि न तो मैं वैकुण्ठ में निवास करता हूँ और न योगियों के हृदय में ही; मेरे भक्त जहाँ गाते हैं, वहीं मेरा निवास है। रवीन्द्र और तुलसी ने अपने गीत गाकर अपार्थिव प्रभु को पार्थिवता प्रदान की है। यही कारण है कि इन गीतों को पढ़ने से अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि होती है।

---

१. छंद गुरु रवीन्द्रनाथ : प्रबोधचद्र सेन।
२. रवीन्द्र संगीत : शांतिदेव घोष।
३. तुलसी के भक्त्यात्मक गीत विशेषत विनयपत्रिका : लेखक।

विनयपत्रिका का एक पद

रघुपति-भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोई जेहि बनि आई ॥
जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी।
सफरी सनमुख जलप्रवाह सुरसरी बहै गज भारी ॥२॥
ज्यों सर्करा मिलै सिकता महँ, बलतें न कोई बिलगावै।
अति रसग्य सूछम पिपीलिका, बिनु प्रयास ही पावै ॥३॥
सकल दृस्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परमसुख अतिसय द्वैत बियोगी ॥४॥
सोक मोह भय हरष दिवस निसि देश काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यहो दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं ॥५॥

विनयपत्रिका—१६७

प्रस्तुत पद में महाकवि तुलसीदास ने भक्ति-तत्त्व पर सम्यक् प्रकाश विकीर्ण किया है। उनका कथन है कि रघुपति की भक्ति करने में बड़ी कठिनाई है। भक्ति के विषय में कुछ कह देना बड़ा सरल है लेकिन उसका संपादन उतना ही जटिल। जो कोई जिस कला में निष्णात है, उसके लिए वही कला सुलभ एवं सुखप्रद है। उदाहरण स्वरूप मछली तो सुरसरि धार के समक्ष चली जाती है लेकिन भीमकाय गजराज उस प्रवाह में ठहर नहीं पाते, बह जाते हैं। पुनः कहते हैं कि यदि धूलि में शर्कराकण मिल जाय तो बल-प्रयोग द्वारा उसका बिलगाना असंभव है, लेकिन छोटी सी रसज्ञ पिपीलिका बिना श्रम के उन्हें चुन लेती है। इसके अनन्तर वे भक्ति-योग की प्रक्रिया पर विचार करते हैं। संसार के सकल सम्बन्धों के ममता रूपी तागों को बटोरकर, अज्ञान रूपी निद्रा का त्याग कर जो सोता है, वही द्वैतभाव से मुक्त महायोगी परमात्मा के परमपद की आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था में न शोक रहता है न मोह, न हर्ष और न भय ही। दिन-रात का भय भी तिरोहित हो जाता है और देश-काल की सीमा भी लुप्त हो जाती है। किंतु जबतक इस अवस्था की प्राप्ति नहीं होती, तबतक संशय का पूर्णतया उच्छेद नहीं होता।

इस सामान्य अर्थ पर दृष्टिपात करने से कुछ प्रश्न बार-बार उठते हैं। ज्ञान का पथ तो "क्षुरस्यधारानिशितादुरत्यया" है ही। इसलिए सूरदास सुलभ भक्ति की महिमा गाते अघाते नहीं। अष्टछाप के दूसरे कवि परमानंद ने भी कहा है कि इन सारे मार्गों की कष्ट साधना में शरीर को क्यों कष्ट देते हो, हरि भजन का सरल मार्ग तो सर्वसिद्ध है ही।

हरि के भजन में सब बात,
ज्ञान कर्म सों कठिन करि कत देत हो दुख गातु।

भक्ति योग पर विचार करते हुए स्वामी विवेकानंद ने लिखा है—"भक्तियोग का एक बड़ा लाभ यह है कि हमारे अंतिम उद्देश्य (ईश्वर) की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है।"[१] स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि सारे धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आओ। जब उनकी शरण में जाने अर्थात् भक्ति में इतने प्रत्यूह हैं तो भला उनकी शरण में कोई कैसे जायगा? श्रीमद्भागवत में व्यासजी ने भक्ति की सुगमता पर प्रकाश डालते हुए प्रह्लाद के मुख से कहलाया है कि अपने हृदय में आकाश के समान अवस्थित परमात्मा की उपासना में विशेष प्रयास ही क्या है?[२] स्वयं महाकवि तुलसीदास ने भक्ति पथ को 'राजडगरमों' माना है जिसमें वक्रता, घुमाव, मोड़ आदि कुछ नहीं। यह तो बड़ा सरल मार्ग है। उसके लिए कुछ प्रयास अपेक्षित नहीं। भक्ति के लिए न योग चाहिए, न यज्ञ, न जप, न तप, न उपवास।[३] तो फिर यहाँ इस पद के द्वारा भक्ति की कठिनता की ओर ध्यान आकृष्ट कराने का क्या तात्पर्य है? क्या राजपथ पर ऐसे बहुत आ गये हैं, भीड़ अत्यधिक बढ़ गयी है और इसलिए उनको भयभीत करने के लिए उन्होंने ऐसा लिखा है? पुनः जो जिस कला में निपुण है, उसके लिए वह कला बड़ी सुगम तथा सुखदायिनी हुआ करती है। यहाँ गोस्वामीजी का लक्ष्य किस ओर है? क्या मछली और चींटी ही इनके लक्ष्य हैं या इन दोनों अप्रस्तुतों के माध्यम से वे किसी गूढ़ तत्त्व का निर्देश करना चाहते हैं? अखिल न्यर्यों का हृदयस्थ करने का रहस्य क्या है? निद्रा तजकर सोने में कौन सी विलक्षणता है? द्वैत वियोगी कौन सा रस अनुभूत करता है? आदि आदि बहुत सी जिज्ञासाएँ पाठकों के मन को विक्षुब्ध कर देती हैं। शब्द इतने सरल कि कोश की आवश्यकता नहीं होती, अर्थ इतने जटिल की लाख सर खुजलाने पर भी कुछ स्पष्ट नहीं होता।

---

१ भक्तियोग, पृष्ठ ६

२ कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्व हृदिच्छिद्रवत्सत —भागवत ७-७-३८

३ कहहुँ भगति पथ कवन प्रयासा, जोग न मख जप, तप उपवासा।
मानस, उत्तरकांड ४५

महाकवि तुलसी ने विनयपत्रिका के सरल प्रतीत होनेवाले पदों में अपने चिंतन के सार को इस प्रकार समाविष्ट किया है कि इसका मर्मोद्घाटन एक कठिन साधना ही है। सर्वप्रथम हम उपर्युक्त जिज्ञासाओं पर जरा विचार करें। भक्तों के लिए कुछ गुण अपेक्षित हैं, जैसे—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई।
बैर न विग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आशा।

यानी भक्तों को सरल स्वभाववाला, कुटिलता से परे, परम संतोषी, वैर विग्रह से मुक्त, विषय सुखों को तृण के समान त्यक्त करनेवाला होना चाहिए, किंतु इसका निर्वाह कितना कठिन है कि कोई करनेवाला अनुभवी साधक ही बतला सकता है। 'जीवन के नियम सरल हैं, पर है चिर गूढ़ सरलपन'।[1] लेकिन हाँ! जो जिस कला में पारंगत होते हैं, उनके लिए वही कला अत्यंत आसान मालूम पड़ती है। भक्ति कई प्रकार की कही गयी है और उनके कर्त्ता भी कई प्रकार के हैं। मुख्यतया भक्ति के तीन भेद हैं—१ नवधा २. प्रेमा और ३. परा।

नवधा भक्ति में बाह्यविधानों के द्वारा परमात्मा की भक्ति की जाती है। इन्द्रियधारी जीवों को इन्द्रियों के स्वामी भगवान् की शरण में जाना चाहिए। 'हृषीकैश्च हृषीकेशसेवन भक्तिरुच्यते।'[2] इस नवधा भक्ति के नौ भेद हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, पादसेवन और आत्मनिवेदन [3] श्रवण, कीर्तनादि के द्वारा इन्द्रियाँ भगवान् की ओर प्रेरित की जाती हैं। इन्द्रियाँ क्योंकि विषयग्रहण में निपुण हैं, इसलिए स्वयं परमात्मा को ही अपना आलंबन बनाकर अपनी समग्र इन्द्रियों को उनकी ओर उन्मुख करना चाहिए। इन्द्रियों के लिए इससे सुलभ और हितकर कुछ हो ही नहीं सकता। हठयोग आदि अन्य पद्धतियाँ इन्द्रियों के लिए बड़ी दुस्साध्य पड़ेंगी अतः इसी नवधा भक्ति के द्वारा सुगमतापूर्वक ईश्वरार्चन की प्रेरणा कवि देता है। विषयप्रवृत्त इन्द्रियाँ जीवों को पतन की ओर ले जाती हैं, अतः इससे मुक्ति का उपाय क्या है? इसलिए कविवर मछली का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। मछली जलप्रवाह के साथ नीचे की ओर भी जाती है, और ऊपर की ओर भी। वह सम्मुख प्रवाह में बहती नहीं, वरन् लहरों को धक्का देकर, लाँघकर, उछलकर ऊपर की ओर चली जाती है। मन तथा इन्द्रियाँ ही मछली हैं। विषयरत मन विनाश की ओर जाता है, जन्म मरण के चक्कर में पड़ता है।

---

१ सुमित्रानन्दनपंत —गुञ्जन
२ नारदपाञ्चरात्र
३ भागवत पुराण ७ ५. २३

अन्यत्र विनयपत्रिका में ही कवि ने लिखा कि विषय-रूपी जल से मन-रूपी मीन एक पल के लिए भी विमुख नहीं होता, इसलिए जीव दारुण विपत्ति सहता हुआ अनेकानेक योनियों में भटकता है।[१] इसलिए जीवों को विषय-प्रवाह से भक्ति के लिए ईश्वर-संबंधी दिव्य विषयप्रवाह के सम्मुख अपने को कर देना चाहिए, तभी ऊर्ध्व गति संभव है।

इसलिए परम पिता परमेश्वर को अपना चरम लक्ष्य मान लेने पर अमर्यादित विषयप्रवाह का दर्प दलित हो जाता है। जीव मीनवत् तुच्छ हुआ तो क्या? वह तो भगवद्विषयानुरक्त है न? किंतु जो भगवान् विषयासक्त नहीं हैं, उन शक्तिशालियों का भी इस प्रवाह के समक्ष कुछ चलता नहीं। वे हाथी जैसे जीव भी बहा लिए जाते हैं। उनके बह जाने का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने इस प्रकार की भक्ति का अभ्यास नहीं किया, केवल वे अपनी स्थूलता पर ही गर्व करते रहे। यह जलप्रवाह गर्हित—कदर्थित नहीं, क्योंकि यह जागतिक विषयों के कल्मष से दूषित नहीं हुआ वरन् यह रामभक्ति से पूत भागीरथी है। गीता में भी भगवान् ने कहा है कि मेरी भक्ति की चर्चा के द्वारा जो आपस में मेरे प्रभाव को जानते हुए तथा गुण और प्रभाव सहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेव ही में रमण करते हैं, उन ध्यानलग्न प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले भक्तों को, वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मेरे ही को प्राप्त होते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥　　गीता १०-९,१०

अब दूसरे दृष्टान्त पर ध्यान दें। इसके द्वारा प्रेमा भक्ति का निदर्शन अभीप्सित है। नारद मुनि ने भक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया है—'भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम को कहते हैं। वह अमृत रूपा है।[२] अमृतरूपा यह इसलिए कही गयी कि इसके द्वारा वासना का मूलोच्छेद हो जाता है, जो वासना मृत्युमय संसार का मूल कारण है। प्रेमी भक्त भगवान् के प्रेम की उमंगों में अहर्निश तल्लीन रहता है। 'सोवत-जागत, सपनवस, रस, रिस, चैन, कुचैन' में उस घनश्याम की सुरति बिसरायी नहीं

---

१. विनयपत्रिका, १०२
२ अथातो भक्ति व्याख्यास्यामः
सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा
अमृतस्वरूपा च　　—नारद-भक्ति-सूत्र

नहीं जाती। यह सकल संसार ही शुष्क मरुभूमि की भाँति है। माता, पिता, दारा, सुत, आदि के प्रति सारे राग ही सिकताकण की तरह हैं। इसी में भगवान् की वत्सलता, अनुकम्पा, करुणा तथा सुशीलता आदि गुण रूपी शर्कराकण मिले हुए हैं। ईश्वर ने ही हमारा गर्भवास में दस महीने तक पालन किया,[1] फिर जन्मग्रहण के अनन्तर माता-पिता के रूप में पोषण भी किया।[2] जो जीव बिलकुल अज्ञ था उसे ज्ञान दिया, जो दुष्ट था उसे शील प्रदान किया।[3] उन्हीं से सारे सम्बन्ध स्फुरित होते हैं।[4] वे ही माता, पिता गुरु आदि हैं, इनको ध्यान में रखने से उनके प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। इसलिए जो प्रेमी-भक्त हैं, वे ईश्वर के गुणों को जानते हैं और इस प्रकार संसार में भी रस ग्रहण कर सदा आनन्दमग्न रहा करते हैं। ऐसे भक्त सफरी की तरह चपल चटुल नहीं होते, वरन् ईषत् धीर गम्भीर हुआ करते हैं। इनका कार्य प्रवाहारोह नहीं, वरन् रससंचयन है। ऐसे भक्त बड़े रसज्ञ हुआ करते हैं और इसलिए नवधा-भक्ति करनेवाले भक्त इनकी समता नहीं कर सकते। सिकताकण से शर्कराकण निकालना पिपीलिका के लिए बड़े कौतुक की बात है। इसके लिए बल प्रयोग की बिलकुल आवश्यकता नहीं। लेकिन योगियों को इसके विपरीत कृच्छ्र साधना करनी पड़ती है। सर्वप्रथम कुण्डलिनी को जाग्रत कर फिर उसे इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों से भ्रमण कराया, विभिन्न चक्रों का भेदन किया और तब कुछ उपलब्ध हुआ। योगसाधक जिसके लिए लम्बी चौड़ी भूमिका बाँधकर भी कुछ प्राप्त कर नहीं पाता, उसे सहज ही पिपीलिका की तरह का भक्त प्राप्त कर लेता है। यह प्रेमा-भक्ति अति सुगम है और इसका जो रहस्य जानता है वह ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति करता है। भक्तवर बैजनाथजी ने इसे सन्तृप्ति दशा बतलायी है :—

> साधन शून्य लिए शरणागत नैन रगे अनुराग नसा है।
> भूतल व्योम जलानिल पावक भीतर बाहर रूप बसा है॥
> चित्त पिना इम बुद्धिमयी मधु ज्यों मखिया मन जाइ फसा है।
> बैजनाथ सदा रस एकहि या विधि सो सन्तृप्त दशा है॥

आगे के चरण में कवि ने परा भक्ति का लक्षण निरूपित किया है। शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र में कहा गया है कि 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में परानुरक्ति ही परा भक्ति है। प्रेमा भक्ति में जब प्रगाढ़ता आ जाती है तब पराभक्ति कहलाती है।

1. विनयपत्रिका—१७१
2. विनयपत्रिका—१६१
3. विनयपत्रिका—१७१
4. विनयपत्रिका—१६०

स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन आदि से प्रेम उत्पन्न होता है (नवधा), पुनः अभ्यास द्वारा शनैः शनैः पुष्ट होता चलता है (प्रेमाभक्ति) और अंत में यही पुष्ट प्रेम उत्कृष्टता, तल्लीनता एवं अनन्यता की शुद्ध भावभूमि पर पहुँचकर पराभक्ति की आख्या प्राप्त करता है। इसलिए यदाकदा प्रेमा और पराभक्ति की क्षितिज-रेखा का निर्णयन बड़ा कठिन हो जाता है। इस पराभक्ति की अवस्था का आकलन रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने बड़े मार्मिक रूप में किया है। जब भक्त-शिरोमणि सुतीक्ष्ण ने सुना कि वन में भगवान् राम का पदार्पण हुआ है तो वे उनके दर्शनार्थ दौड़ गये। भवबंधन से विमुक्त करनेवाले प्रभु आज अपने मुखारविंद का दर्शन देंगे, इसकी कल्पना कर सुतीक्ष्णजी मन-ही-मन मुग्ध हो गये। उन्हें न दिशा विदिशा का ज्ञान रहा और न पथ का भान रहा। वे कौन हैं तथा कहाँ जा रहे हैं? इसकी सुधि एकदम नहीं रही। उनकी एतादृश अवस्था देखकर भगवान् उनके हृदय में ही प्रकट हुए। हृदय मध्य प्रभु के दर्शन पाकर सुतीक्ष्ण जी मध्यमार्ग में अचल होकर बैठ गये। उनका शरीर पुलक भार से पनसफल के समान कंटकित हो गया। तब श्री रघुवीर जी उनके पास चले आये और अपने भक्त की प्रेम दशा देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए। भगवान् ने उन्हें बहुत प्रकार से जगाया, पर मुनि नहीं जागे। वे सुध बुध सब कुछ खो चुके थे। उन्हीं के प्रेमानन्द में तल्लीन थे।[१] ध्यानसुख के मार्ग में किसी प्रकार का आघात-व्याघात उत्पन्न नहीं हुआ और इसलिए मुनि अविचल पड़े रहे।

ठीक इसी पराभक्ति का निरूपण अगली पंक्तियों में हुआ है। जरा इन वाक्य खण्डों पर ध्यान दें—'सकल हृदय निज उदर मेलि', 'निद्रा तजि सोवै द्वैत वियोगी' तथा 'अनुभवै परम सुख'। सांसारिक अविरल दृश्यों से वीतराग होना ही दृश्यों को उदर में मेलना है। सृष्टि के सभी बिखरे प्रेम का वास्तविक केन्द्र भगवान् की ओर ही है। अतः उनका सब प्रीति-प्रतीति भगवान् की ओर नियोजित कर देना ही सकल दृश्यों को उदरस्थ करना है। एक पद में कवि ने कहा है कि इस शरीर की जितनी प्रीति, प्रतीति और नातेदारी है, वे सब ओर से सिमटकर आपकी ओर हो जायँ।[२] जगत् तो भगवान का शरीर है। चराचर जगत् नियाम्य और श्री रामचन्द्र जी नियामक हैं। अतः जगत् के द्वारा होनेवाले सारे कार्य भगवान् की प्रेरणा से हुए हैं और इसलिए संसार के प्रति व्यक्त होनेवाले सारे प्रेम इन्हीं को अर्पित होने चाहिए। इसलिए रामचरितमानस में भगवान् ने विभीषण से कहा कि जननी, जनक, बंधु, सुत, दारा, तन, धन, भवन, सुहृद परिवार आदि सबके ममत्व रूपी तागे को बटोरकर और उन सबकी एक डोरी बनाकर उसके द्वारा जो अपने मन को

---

१. मानस, अरण्यकाण्ड १०
२ विनय—१०३

मेरे चरणों में बाँध देता है, ऐसा सज्जन ही मेरे अन्तस्तल में बसता है।[1] मतलब यह हुआ कि सांसारिक संबंधों का ईश्वरार्पण ही इनको उदरस्थ करना है।

अब जरा निद्रा त्यागने पर विचार करें। सुत, वित्त, दारा, भवन आदि की ममता अंधेरी रात के समान है। 'ममता तरुन तमी अँधियारी'[2] रात में देहाभिमान करना शयन है। यथा—

> मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिए सपन अनेक प्रकारा।
>
> एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।[3]

विषयों से वैराग्य करके देहाभिमान त्यागना ही जागना है।

> जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा॥
>
> होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥

यहाँ विषय त्याग करना निद्रा त्याग करना है।

अगर विषय-वासना से बुद्धि कलुषित नहीं हो, तो द्वैत-बुद्धि के कारण ही 'अयं निजः परोवेति' की स्थिति होती है। जब ज्ञान चराचर जगत् के क्रिया-कलाप भगवान् के ही क्रिया-कलाप हैं तो शत्रु, मित्र एवं मध्यस्थ—ये तीन भेद करके किसी को सर्प की तरह छोड़ देना, किसी को स्वर्ण की तरह ग्रहण करना तथा किसी को तृण की तरह उपेक्षणीय समझना तो व्यर्थ ही है। द्वैत-बुद्धि के कारण नाना प्रकार से सहति-दुःख, संशय-दुःख सहन पड़ते हैं।[4]

जब मनुष्य द्वैत-भाव से मुक्त हो गया, चिंताविरहित हो गया, तब वह घोर निद्रा में सोएगा। प्रगाढ़ निद्रा में जगत् के नानात्व की स्मृति नहीं रहती। इस अवस्था में भक्त योगी ईश्वरानन्द में तल्लीन रहता है। इस परम पद-प्राप्ति का आनन्द अनिर्वचनीय है, अक्षय है। सारी कामना जब समाप्त हो गयी, तब मनुष्य अमर हो जाता है, और इसी शरीर में ब्रह्मानन्द का साक्षात् मोक्ष होता है।[5]

इस परमानन्द की अवस्था को योगियों की तुरीयावस्था ही समझिए। योगी जब पूर्णतया चित्त-वृत्ति का निरोध कर, उस इष्ट आराध्य से संबंध जोड़ता है तो वह इसी स्थिति में आ जाता है और अपने को आनन्द की अजस्र धारा में निमज्जित

---

1. जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
   सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
   —मानस, सुन्दरकांड
2. मानस, सुन्दरकांड, ४६
3. ,, अयोध्या, ९३
4. विनय, १२६
5. कठोपनिषद

पाता है। इस अवस्था में शोक-मोह का आवरण नहीं रहता क्योंकि नानात्व-दृष्टि तो पहले ही समाप्त हो चुकी है।

इस समय साधक इतना तदाकार हो जाता है कि शोक मोहादि विकारों की छाया भी उसके चित्त-प्रदेश में नहीं रह जाती।[१] यहाँ तक कि स्वशरीर की भी सुधि नहीं रहती। इसलिए भगवान् में आसक्त प्रह्लादजी सर्प-दंशन के बाद भी उसकी पीड़ा से अनभिज्ञ रह जाते हैं।[२] फिर जब शरीर की ही सुधि नहीं रही तो दिवस-रात्रि, देश और काल का भेद स्वतः तिरोहित हो गया। लेकिन जबतक मनुष्य इस अवस्था को प्राप्त न कर ले तब तक भगवत्-प्राप्ति में संशय बना रहता है। संशय का उच्छेद आवश्यक है, क्योंकि संशयात्मा का तो विनाश ही होता है।

विनयपत्रिका आद्यन्त भक्ति रस से ओत-प्रोत है। कवि का हृदय सर्वत्र दलित द्राक्षा की तरह द्रवित हो उठा है। यदि तात्पर्यनिर्णय के छह तत्त्वों पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है भक्ति की सर्वोपरि महत्ता किस प्रकार सिद्ध की गयी है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, अर्थवाद और उपपत्ति—इन्हीं के द्वारा कहा जा सकता है कि किसी कवि का क्या अभीष्ट था। कवि या लेखक अर्थवाद के द्वारा अपने विषय की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है जिससे कि दूसरे भी उस ओर प्रवृत्त हों। उपपत्ति के द्वारा विपक्ष का खंडन किया जाता है और स्वमत का मंडन।

चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहते हैं।[३] योग किसी प्रकार का हो, चाहे हठयोग, मंत्रयोग, राजयोग या लययोग, भक्तियोग के समक्ष सभी तुच्छ हैं। इस भक्ति योग का आनन्द सर्वोपरि है। इस योग में 'रस गगन गुफा में अजर झरै' के अजस्र आनन्द से कम आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। फिर अन्य मार्गों में घर-द्वार परित्यक्त करना पड़ता है, जटा-जूट बाँधना पड़ता है; यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम आदि न मालूम कितने गोरखधंधे अपनाने पड़ते हैं, किंतु नवधा भक्ति करने वाले भक्त सांसारिक प्रवाह में बहते हुए भी भगवान् का ध्यान कर सकते हैं। पात्रों की योग्यता, सक्षमता के आधार पर तीनों प्रकार की भक्ति तीन प्रकार के उपासकों के लिए वांछनीय हैं। तीनों प्रकार की भक्ति से उपासकों के त्रिविध ताप दूर होते हैं। नवधा भक्ति से आध्यात्मिक ताप, प्रेमलक्षणा भक्ति से

---

१ यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः —ईशोपनिषद् ७

२ स व्यासक्तमति कृष्णे दश्यमानो महोरगैः
न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसुस्थितः॥ —विष्णुपुराण १-१७-३६

३. पातंजल योगसूत्र

आधि-भौतिक ताप तथा परा भक्ति से आधि-दैविक ताप दूर होते हैं। प्रह्लाद ने भगवान् की प्रेमा भक्ति की तो हिरण्यकशिपु की यातना से मुक्त हुए, भरत ने प्रेमा भक्ति की तो दैव-कुचक्र से उत्पन्न मनस्ताप से मुक्त हुए, अवधवासियों ने सगुण-रूप भगवान् की आराधना की तो अल्पनिधन, रोग, दारिद्रय आदि से अस्पृष्ट रहे। यही अर्थवाद हुआ।

अब उपपत्ति पर विचार करें। तुच्छ मकरी और पिपीलिका जैसे जीव भी भक्ति के द्वारा ईश्वर-संधान में सफल हो सकते हैं। किंतु योग बल के दंभी महाशक्ति वाले भी भगवान् की भक्ति पाने में असमर्थ हैं। समर्थ योगी की उपमा बलवान् हाथी से अन्यत्र भी दी गयी है। महाभारत के शांतिपर्व में कहा गया है कि हे राजन्! जैसे निर्बल मनुष्य जल स्रोत के द्वारा बह जाता है वैसे ही निर्बल योगी भी अवश होकर विषय प्रवाह में बह जाता है। जैसे बलवान् हाथी महास्रोत को तुच्छ समझकर अनायास ही रुद्ध करने में समर्थ होता है वैसे ही योगबल प्राप्त कर योगी बहुत बड़े विषय-प्रवाह से युद्ध करता है।[१] किंतु यहाँ पर गोस्वामीजी ने बड़े-बड़े योगियों का विषय-प्रवाह में बह जाना ही सिद्ध किया है। योग-मार्ग का खंडन ही उनका लक्ष्य है। जिस किसी ने भक्ति-पंथ के रहस्य को समझ लिया है, उसके लिए परमात्मा के वरद पद का आनंद प्राप्त कर लेना बड़ा सरल है।

विनयपत्रिका के टीकाकार श्री बैजनाथ भट्ट ने विनय की सात भूमिकाएँ मानी हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण विनय-साहित्य को इन सात भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये सात हैं—**दीनता, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण**। यह पद विचारण की भूमिका से लिखित है जिसमें सिद्धान्तनिरूपण ही कवि का मुख्य ध्येय है। 'केशव कहि न जाय का कहिए' पद भी इसी कोटि में रखा जाता है।

प्रपत्ति की दृष्टि से इस पद का अध्ययन किया जाय तो इसके कोई न कोई भेद भी इसमें निहित मिलेंगे। भक्ति और प्रपत्ति में थोड़ा अन्तर है। भक्ति साधन-रूपा है और प्रपत्ति साध्य-रूपा, प्रपत्ति में भक्त अपने को भगवान् का शरणागत समझता है। जब शरणागत हो गया तो उसपर प्रभु की अनुकंपा होगी ही। भला द्वार पर आये की खातिर कौन नहीं करता है! नारदपांचरात्र का प्रपत्ति-संबंधी एक श्लोक इस प्रकार है—

---

१ दुर्बलश्च यथा राजन् स्रोतसा ह्रियते नरः।
बलहीनस्तथा योगी विषयैर्ह्रियतेऽवशः।
तदेव च महास्रोतो विष्टम्भयति वारणः।
तद्वद्योगबलं लब्ध्वा व्यूहते विषयान् बहून्।
—महाभारत, शांतिपर्व (३००/२०-२१)

आनुकूल्यस्य सकल्प प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागति

अर्थात् आनुकूल्य का सकल्प, प्रातिकूल्य का त्याग, भगवान् की रक्षा पर विश्वास, गोप्तृत्ववरण, आत्मनिवेदन तथा कार्पण्य ये ही छह प्रपत्ति के अग हैं। इस पद में ऊपर से तो कार्पण्य नहीं झलकता, लेकिन सफरी और पिपीलिका—इन दो उपमानों पर ध्यान दें तो जीव की दीनता का रूप स्पष्टत लक्षित हो जाता है। ईश्वर के समक्ष इस जीव का कोई अस्तित्व नहीं। उसकी विराटता के समक्ष मनुष्य या भक्त चींटी के तुल्य हैं। इसलिए चींटी का प्रयोग कर गोस्वामीजी ने अपना कार्पण्य प्रकट किया है।

तुलसी का अप्रस्तुतविधान बडा व्यापक एव विविध है। लेकिन कभी कभी पर्युषित अप्रस्तुतों के अनावश्यक आम्रेडनवश पाठकों का मन ऊबने लगता है। किंतु इस पद में ऐसा दोषारोपण सभव नहीं। 'जो जेहि कला बहै गजभारी' में तथा 'ज्यों सर्करा • बिनु प्रयास ही पावै' में दृष्टात अलकार है क्योंकि उपमेयों, उपमानों तथा उनके साधारण धर्मो का परस्पर बिम्ब प्रतिबिम्बभाव परिलक्षित हो रहा है। अनुप्रास प्रत्येक पक्ति में है, अत उसकी चर्चा निरर्थक है, भले कहीं वृत्यनुप्रास है, कहीं छेकानुप्रास। 'निद्रातजि जोगी सोवै' में आपातत: विरोध मालूम पडता है, इसलिए यहाँ विरोधाभास अलकार मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं मालूम पडती।

विषय के अनुकूल भाषा का निर्वाह बडा आवश्यक है।[1] उत्कृष्ट भाषा में शब्दचयन पर ध्यान नहीं रखने से रचना का सौंदर्य विनष्ट हो जाता है। त्रिलोकविहारी, सगुणलीलावपुष, मूर्तिविग्रह, परमपावन मगलमय विभु के मदिर में प्रविष्ट कर उनकी इबादत करना हमारा धर्म है या मैंने पिताजी को सैल्यूट किया आदि वाक्यों में प्रयुक्त विजातीय शब्द 'इबादत' और 'सैल्यूट' एकाएक धक्का दे देते हैं। विनोद व्यग्य की भाषा और दर्शन के सिद्धान्तनिरूपण की भाषा एक प्रकार की हो नहीं सकती। इस पद में भक्ति के गूढ रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। इसलिए कवि ने जान बूझकर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया। सुगम, अपार, जल प्रवाह, सुरसरि, सर्करा, सिकता, पिपीलिका, सफल, दृश्य, निज, उदर, निद्रा, परम, सुख, हरिपद, द्वैत वियोगी, भय मोह, दिवस काल आदि। जहाँ कहीं तत्सम शब्दों का थोडा रूप बदला गया है वहाँ पर भी छद और सागीतिकता को ध्यान में रख कर ही। भक्ति को भगति, सूक्ष्म को सूच्छम, अतिशय को अतिसय, शोक को सोक, दशा का दसा, निर्मूल को निरमूल करने के पीछे एक ही उद्देश्य है कि श्रुतिपेशलता द्विगुणित हो जाय। इस पद में एक भी देशज या विदेशज शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है।

---

1 Style must follow the thickness of thought

शब्दयोजना पर विचार कर लेने के उपरान्त ध्वनि पर विचार करें। वाच्य से अधिक उत्कर्षक, चारुता-प्रतिपादक व्यंग्य को ध्वनि कहते हैं।[1] उत्तमोत्तम काव्य से वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की विवक्षा की जाती है। इस पद की अंतिम पंक्तियों में 'तुलसीदास यदि दसाहीन संशय निरमूल न जाहीं' में अर्थान्तर संक्रमित वाच्य-ध्वनि है—जब तक मिथ्या ज्ञान का लोप नहीं होता तब तक रघुपति की भक्ति सुलभ नहीं होती।

यह पद लयात्मक छंद में विरचित है इसलिए कोई आवश्यक नहीं कि इसकी प्रत्येक पंक्ति मात्रिक छंद के नियमानुसार रचित हो। लेकिन कवि ने इस पद को मात्रिक वृत्त के अनुशासन में ही रखा है :—

४ ४ ४ ४
। । । । । । । । । । । । ऽ ऽ
र घु प ति भ ग ति क र त क ठि ना ई। =१६ मात्राएँ

६ ८ ८ ६
। । । । । । । । ऽ । ऽ । ऽ ऽ । । । । । । ऽ ऽ
कहत सुगम। करनी अपार। जानै सोई जेहि। बनि आई। =२८ मात्राएँ

६ ८ ८ ६
। । । । ऽ ऽ । । ऽ । । । । । । । । ऽ । । ऽ ऽ
जो जेहि कला। कुसल ताकहँ। सोइ सुलभ सदा। सुखकारी =२८ मात्राएँ

६ ८ ८ ६
। । ऽ । । । । । । । ऽ । । । । ऽ । ऽ । । ऽ ऽ
सफरी सन। मुख जल प्रवाह। सुरसरी बहै। गज भारी।२।=२८ मात्राएँ

इस प्रकार मात्रागणन और विभाजन के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि टेक सोलह मात्राओं वाले पादाकुलक का एक चरण है, क्योंकि चार-चार मात्राओं के चतुष्कल बन जाते हैं और अवशिष्ट नौ पंक्तियाँ सार छंद की हैं जिसके प्रत्येक चरण में २८ मात्राओं और अंत में कर्ण का रहना अनिवार्य है।

यह सम्पूर्ण पद सोलह मात्रिक तीताल में बद्ध है। टेक के बाद की पंक्ति और अन्तरा की सभी पंक्तियों के आदि और अंत में दो-दो मात्राओं की अभाव-पूर्ति आलाप, मीड या प्लुत-उच्चारण के द्वारा दी जा सकती है। गेयता के लिए बड़ा गुण मेरी

[1] चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।
—आनन्दवर्धन—ध्वन्यालोक।

दृष्टि में यही है कि उच्चारित वर्ण-मात्राओं और ताल-मात्राओं में थोड़ा अन्तर अवश्य हो। मात्राओं की कुछ कमी जबतक नहीं रहेगी तबतक गायक अपने कौशल-प्रदर्शन में असमर्थ ही रहेगा या अत्यधिक कष्ट का अनुभव करेगा। गेयता-सौकर्य की दृष्टि से प्रस्तुत पद का छंदोविधान बड़ा उपयुक्त है। इस कथन की पुष्टि के लिए एक बात और कही जा सकती है कि यदि अंतरा की पंक्तियाँ त्रिभंगी, या पद्मावती छंद में होती तो गायन का यह सौंदर्य कब न विनष्ट हो गया होता।

छंद के साथ लगे हाथ संगीत-तत्त्व पर विचार कर लें। विनयपत्रिका के करीब-करीब मैंने दस-ग्यारह संस्करण देखे हैं और सारे संस्करणों में इस पद के ऊपर सोरठराग लिखा है। संगीत-शास्त्र की दृष्टि से सोरठ राग की निम्नांकित विशेषताएँ हैं :—

सोरठ राग

राग—सोरठ	वर्जित स्वर—ग, ध आरोह में
थाट—खमाज	आरोह—सारे, मपनि सा
जाति—औडव संपूर्ण	अवरोह—सारे, निध, मपध, मरेनिसा
वादी रे, सम्वादी ध	
स्वर—दोनों नि	समय—रात्रि द्वितीय प्रहर

वैसे तो यह पद सोरठ राग में बद्ध है, लेकिन गायक अपनी योग्यता और कुशलता के अनुसार राग परिवर्तित भी कर सकता है। हाँ! इस राग में गाया जाना शायद कवि को अभिप्रेत रहा होगा। राग को मुख्यतया तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—कोमल, शुद्ध और तीव्र। कोमल रागों के द्वारा भक्ति और करुणा के भाव अत्यधिक प्रेषणीय होते हैं। सोरठ राग कोमल राग ही है अतः भक्ति रस की निष्पत्ति के लिए इस राग का चयन बड़ा उपयुक्त प्रतीत होता है। एक बात और ध्यातव्य है कि शास्त्रकारों ने प्रत्येक राग के गायन का समय भी निश्चित किया है। यह तत्त्व सर्वथा मनोवैज्ञानिक भी है कि हर घड़ी हमारी मनः स्थिति एक धरातल पर नहीं होती। सोरठ राग के गाने का समय रात्रि का द्वितीय प्रहर है।

समय और पद के भाव के संबंध पर थोड़ा ध्यान दें। कवि प्रातःकाल से सायंकाल तक जीव और जगत् की विभिन्न हलचलों, उत्कर्ष-विकर्ष, राग विरागों के बीच युद्ध करता चलता है। उषाकालीन सूर्य की अरुणाभ रश्मियाँ जब कोमल कोंपलों के कमनीय कपोलों पर आशा एवं नवजागरण का नवसंदेश आँक देती हैं, तो उस समय रात्रिकालीन श्रान्ति क्लान्ति से मुक्त व्यक्ति भी जीवन की नई प्रभा से प्रोद्भासित हो उठता है। किंतु पुनः दिनभर की व्यस्तता और क्लिन्नता के कारण, उस समय अपने पर खेद होता है, जब वह रात्रि के समय बिछावन पर जाता है। जिसको उसने दिवस के आरम्भ में बड़ा सुगम समझा था, रात्रि आते-आते बड़ा कठिन मानने लगता है। तुलसी को इस तथ्य का ज्ञान हो गया है कि जिस भक्ति के कथा-रूप को उसने बड़ा सरल समझा था, उसका क्रियात्मक रूप उतना सरल नहीं। कवि की मनोवृत्ति से राग के समय-निर्धारण का संबंध भी बड़ी आसानी से बैठ जाता है। हम प्रायः इस पद की कुछ सूक्ष्मताओं पर अति संक्षेप में विचार कर चुके हैं। एक प्रमुख तत्त्व बचा रह जाता है। किसी भी उत्कृष्ट कविता के लिए भाव-धर्मिता और संगीत-धर्मिता के साथ-साथ चित्र-धर्मिता की अवस्थिति भी आवश्यक है। कविता के द्वारा 'बिम्ब-विधान' नहीं हुआ तो कवि की अक्षमता सिद्ध होती है। दार्शनिक सूत्रों और कविता में यही तो पार्थक्य है कि जिन सिद्धान्तों को दार्शनिक पाठक के मस्तिष्क में बैठा नहीं पाता, कवि पाठक के मस्तिष्क पर उसका चित्र खींच देता है। तुलसी के इस पद में भी कई चित्र बनते हैं मानस-फलक पर।

पहला चित्र—आगे लहराती गंगा की दुग्ध-धवल जलधारा। धाराओं पर सुनहली मछलियाँ क्रीड़ा कर रही हैं—एक नहीं, अनेक। बीच-बीच में एक दो आबनूस या अलकतरे के रंग के हाथी उतरा रहे हैं। बिलकुल स्वच्छ धवल पृष्ठभूमि या कैनभस पर सुनहले और काले रंगों के मिश्रण से बन चित्र कल्पना की आँखों को बड़ी तृप्ति प्रदान करते हैं। वर्णों के इस सामंजस्य ने चित्र की मनोहारिता में चार चाँद लगा दिये हैं।

दूसरा चित्र—सामने सिकता का पारावार जैसे अनन्त तक सीपी के चूर्ण या चाँदी के पाउडर बिखेर दिये गये हों। उसपर काली-काली स्याही के छींटों जैसी असंख्य अध्यवसायी चीटियाँ चली जा रही हैं। हिम-गिरि के रजत-शिखरों पर काली घन-मालाओं का दृश्य जो दूर से लक्षित होता है—वैसी ही कुछ आकृति मानस पर बनती है।

नीचे की पंक्तियों में बिम्बात्मकता है लेकिन बड़ी दुरूह, बड़ी दूरारूढ़। महाकवि कीट्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लामिया' में लिखा है—"All charms fly at the touch of cold Philosophy." दर्शन के शीत-स्पर्श से सुषमाएँ

महान् भक्तकवि निराला

विद्रोही कवि निराला, जो सामाजिक चेतना से अनुप्राणित साहित्य सृजन करते रहे, वही सहसा अपने को भगवान् की ओर उन्मुख कर दें, ईषत् आश्चर्य-बोधक अवश्य लगता है। निराला न तो किसी मृगलोचनी की फटकार खाकर ही ईश्वरोन्मुख हुए, न विद्यापति की तरह जीवन की अस्तवेला में पाप-प्रक्षालनार्थ भक्ति-गीत लिखने लगे, न सुजन-समाज को रिझाने के लिए 'हरि गोविन्द सुमिरन' का बहाना करते रहे, न नौ सौ चूहा खाकर बिल्ली चली हज को जैसी लोकोक्ति को चरितार्थ करते रहे, बल्कि इस क्रांतिकारी कवि के अंतस्तल में भक्ति की अन्तः-सलिला सदा स्पंदशील रही। अनेकानेक क्रांतिकारियों की जीवन-कथा हमें ज्ञात है, जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य संग्राम में सम्मिलित होने के पूर्व माँ काली के मन्दिर में प्रविष्ट हो आशीष ग्रहण करते थे। अतः वे 'अंगं गलितं पलितं मुंडं दशनविहीनं जातं तुण्डम्' की स्थितिप्राप्ति के उपरान्त काँपती थर-थराती उँगलियों से सुमरिनी पकड़ कर अंत समय में रामोच्चार कर अपवर्ग-प्राप्ति के आकांक्षी नहीं थे, वरन् उनके कवि-जीवन के आरंभ-बिंदु से ही उनपर हम आस्तिकता एवं भक्ति का मजीठ रंग पाते हैं। गीतिका के प्रारम्भिक गीत को ही देखें—

> वर दे, वीणावादिनी वर दे !
> प्रिय स्वतंत्र रव अमृत मंत्र नव
> भारत में भर दे !
> काट अन्ध-उर के बन्धन स्तर
> बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर,
> कलुष भेद तम हर प्रकाश भर
> जगमग जग कर दे !

इसके कारण अनेक कहे जा सकते हैं; किन्तु समाजशास्त्रीय आधारों पर कहा जा सकता है कि निराला का सारा जीवन ही करुण काव्य रहा। उनके सांसरिक दुःखों का क्या कहना! शैशव काल से ही वे जीवन-रण में जूझते रहे, और पुरस्कार-स्वरूप उन्हें पराजय ही मिली।[1] सरोज के असमय निधन ने तो उनकी कमर तोड़ दी। अरमानों की चिता धू-धू कर जल उठी।

---

१. हो गया व्यर्थ जीवन
मैं रण में गया हार—अनामिका।

दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो न कही
—सरोज-स्मृति (अनामिका)

इतना ही नहीं, तन भग्न हो उठा है, मन रुग्ण हो उठा है, तथा जीवन विपन्न हो उठा है। अतः इस रिक्तमार आनन्द-शून्य जीवन से क्या होने वाला है ? सासारिक व्यक्तियों से तरह-तरह की आशाएँ की गयीं, किंतु किसी से मनोरथ पूरा नहीं हुआ। अतः चित्त-शांति के लिए सान्त्वना की अमोघ औषध के लिए अब प्रभु के अतिरिक्त और कौन आश्रय-स्थल हो सकता है ? इस तरह निराला ने अपने को ईश्वर की ओर मोड़ दिया। उनके काव्य में भक्त्यात्मक मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के अध्ययन के पूर्व भक्ति पर संक्षेपतः विचार कर लेना आवश्यक है। भक्ति की परिभाषाएँ इस प्रकार दी गयीं हैं—

१. सा परानुरक्तिरीश्वरे[१]
ईश्वर में अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति है।

२. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा[२]
भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम रूपा है।

३. स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः[३]
पंडितों के द्वारा स्नेहपूर्वक परमात्मा में ध्यान लगाना ही भक्ति है।

४. ईश्वर के प्रति भक्ति परम प्रेम के सिवा और कुछ नहीं।[४]

अतः भक्ति उसे कहेंगे जब भक्त अपने को लघुतम मानता है और भगवान् को महत्तम और उसके समक्ष अपने पापों का चित्रगुप्त-खाता उपस्थित करता हुआ, उसे नाना विशेषणों से विभूषित करता हुआ, अपनी शरण में ले लेने की प्रार्थना करता है।

---

१. शांडिल्य भक्तिसूत्र—अध्याय १, श्लोक सं० २
२. नारदभक्तिसूत्र।
३. गीता पर रामानुज भाष्य—७ वाँ अध्याय, ११ वाँ श्लोक।
४. The very nature of love is to be loved by others for thus a union is effected. The essence of all love consists in union. Hence it is plain that the divine love cannot do otherwise than have its being and manifestation in others whom it loves and by whom it may be loved.
—The Divine love and wisdom—स्वीडनवर्ग ; पृ० १६।

निराला भी अपने भगवान् की प्रशंसा से अघाते नहीं। वे परम रमण, पाप-शमन तथा स्थावर-जङ्गम के जीवन हैं। वे अक्षर-अमर हैं। उन्होंने अमित असुरों का संहार किया है। उनकी कृपा से ही दुरित दोष दूर होते हैं, और सकल विश्व में विजय-घोष गूँजने लगता है। भक्तों के लिए तो वे आशुतोष ही हैं। पंक्तियाँ देखें—

"तन, मन, धन, वारे हैं
परम-रमण, पाप - शमन
स्थावर-जङ्गम - जीवन
उद्दीपन, संदीपन
सुनयन रतनारे हैं।
उनके वर रहे अमर
स्वर्ग - धरा पर सञ्चर,
अचर - अक्षर अचर
असुर अमित मारे हैं।
दूर हुआ दुरित, दोष,
गूँजा है विजय - घोष
भक्तों के आशुतोष
नभ - नभ के तारे हैं।" अर्चना, पद सं० ४६

इस तरह निराला अनकानेक गीतों में ईश्वर की महत्ता का स्तवन करते हैं। कई पदों में कबीर की तरह सांसारिक असारता एवं भयंकरता का वर्णन करते हैं, क्योंकि जबतक संसार सार-युक्त मालूम पड़ता रहेगा; तबतक व्यक्ति उसके नाग-पाश से मुक्त नहीं होगा। असारता और भयंकरता से संबद्ध पंक्तियाँ देखें—

लिया - दिया तुमसे मेरा था,
दुनिया सपने का डेरा था —अर्चना, पद सं० ४८

× × ×

कठिन यह संसार, कैसे विनिस्तार?
उर्मि का पाथार कैसे करे पार?,
अयुत भंगुर तरङ्गे, टूटता सिन्धु
तुमुल, जल-बल-भार, क्षार-तल क्षुब्ध विन्दु,
तट-विटप लुप्त, केवल सलिल - संहार।
ऋतु-वलय सकल शय नाचते हैं यहाँ,
देख पड़ता नहीं, खींचते हैं यहाँ,
सत्य में झूठ, कुहरा भरा संभार।"—अर्चना, पृ० ७४-७५

अतः इन विकराल विभीषिकाओं से संग्रस्त होकर कवि भगवान् की शरण के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं समझता। इसलिए उसकी याच्ञा है—

"जगज्जाल छाया,
माया ही माया
सूझता नहीं है पथ
अन्धकार आया,
तिमिर-भेद शर दो"   —अर्चना, पद सं० ६०

पुनः वह वासना-क्षय के लिए प्रार्थना करता है क्योंकि राम और काम का एकाश्रय नहीं। वह कहता है—

मानव का मन शांत करो हे
काम, क्रोध, मद, लोभ, दम्भ से
जीवन को एकान्त करो हे

इसके साथ ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीताजलि की पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं जहाँ भाव-साम्य दर्शनीय है—

अन्तर मम विकसित करो
अन्तर तर हे
निर्मल करो, उज्जवल करो
सुन्दर करो हे
जाग्रत करो, उद्यत करो
निर्भय करो हे —गीतांजलि, पद सं० २।

भक्ति और विनय की भूमिकाएँ:—कोई भी प्रगाढ़ भक्त अपने भगवान् के समक्ष विनत होकर अपने हृदयस्थ-भावों का प्रकाशन करता है, वह अपनी वास्तविक स्थितियों का स्पष्टीकरण करता है, अपने दोषों का स्वीकरण करता है तथा अपने कल्मष-प्रक्षालन के लिए तरह-तरह से निवेदन करता है। अतः विनय भक्ति की आवश्यक शर्त्त है और यह विनय-भाव मुख्यतः सात सरणियों में प्रवाहित होता है—

१. दीनता
२. मानमर्षता
३. भयदर्शना
४. भर्त्सना
५. आश्वासन
६. मनोराज्य
७. विचारण

१. दीनता-विषयक गीतों में निराला ने अपने आराध्य को पूर्णतः सक्षम-समर्थ मानकर अपने कष्टों के निवारणार्थ प्रार्थना की है। इन गीतों में दीनता की वह दलित-गलित स्थिति नहीं है जो अन्य वैष्णव कवियों में दर्शित होती है। वे कहते हैं—

विपदा हरण हार हरि हे करो पार
प्रणव से जो कुछ चराचर तुम्हीं सार। —आराधना, पद सं० २१

२. आश्वासन की भूमिका में कवि का पूर्व-विचलित, भ्रांत मन शनैः शनैः आश्वस्त होता दीखता है कि जब उस पर उसके प्रभु की वरद-सुखद छाया है, तो पुनः इन आतरिक और वाह्य शत्रुओं की समवेत शक्ति भी बाल बाँका नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ पंक्तियाँ देखें—

राम के हुए तो बने काम,
संवरे सारे धन, धान धाम। —आराधना, पद सं० २०

३. मनोराज्य की भूमिका में निराला ने अपने इष्ट से इस प्रकार की इच्छा व्यक्त की है। प्रभु चाहे तभी भवसागर से उद्धार, कराल-काल से रक्षा तथा भू-भार-हरण संभव है। वे कहते हैं—

भजन कर हरि के चरण, मन!
पार कर मायावरण, मन!
कलुष के कर से गिरे हैं
देह-क्रम तेरे फिरे हैं
विषय के रथ से उतर कर
बन शरण क' उपकरण, मन। —अर्चना, पद सं० ७८

तथा

पतित हुआ हूँ भव से तार,
दुस्तर दव से कर उद्धार
तू इङ्गित से विश्व अपरिमित
रच रच कर करती है अवसित
किस काया से किस छायाश्रित,
मैं बस होता हूँ बलिहार। —अर्चना, पद सं० ६६

४. विचारण की भूमिका में कवि का मस्तिष्कपक्ष प्रधान हो उठता है। वह आत्म-निवेदन की अपेक्षा दार्शनिक जटिलताओं में उलझ जाता है; माया, जीव ब्रह्मादि के व्यूह-भेदन में उद्यत हो जाता है। निराला इस बुद्धिवादी युग के कवि

हैं; आज जब विज्ञान आस्था की शल्य-चिकित्सा में संलग्न है, वहाँ निराला जैसे कवि के गीतों में दार्शनिक चिंतन का आग्रह न हो, ऐसा असंभव है। विचारण-संबंधी कुछ पंक्तियाँ देखें—

तिमिर हरण तरणितरण किरण वर हे
नित दानव मानवगण चरण-शरण हे
कला - सकल करतल गत,
अविगत, अविमत, अविरत
आनन आनत शत - शत
मरण - मरण हे —आराधना, पद सं० ६१

× × ×

मन न मिले न मिले हरि के पद
अंश हुए न, हुए न वशम्वद। —आराधना, पद सं० ८२

विनय की सप्तभूमिकाओं में मानमर्दता, भयदर्शना तथा भर्त्सना का अभाव निराला के भक्तिपरक गीतों में आश्चर्यजनक रूप से खटकता है। मानमर्षता में अभिमान भजन, भयदर्शना में भयोत्पादन द्वारा प्रभु-पद में आसक्ति तथा भर्त्सना में दुत्कार फटकार के द्वारा आराध्योन्मुखता की प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। ये तीनों भूमिकाएँ गोस्वामी तुलसीदास के पदों में पूर्णतः दर्शित होती हैं। कारण स्पष्ट है, तुलसी का दास्य अपने शीर्ष-विन्दु पर है, उनका अहम् सर्वांशतः द्रवित हो उठा है। उनके गीतों में आराध्य-आराधक का द्वैत तिरोहित हो उठा है। बस जिधर दृष्टि जाय, केवल वही, केवल वही है। किन्तु निराला का पौरुष-दीप्त अहम् इस प्रभु लगन की कठिन आँच में भी पिघल नहीं सका। निराला शरण की कामना करते हैं, मुक्ति की आकांक्षा करते हैं, फिर भी अपने को इतना तुच्छ, इतना पाप पङ्किल, इतना कल्मष आविल नहीं मानते, जिसके लिए उन्हें बार बार अपने को डराना पड़े, अपनी भर्त्सना करनी पड़े। इसलिए तुलसी जहाँ आत्म-विलयन कर पाते हैं, वहाँ निराला अपने व्यक्तित्व-बिन्दु को भी मिटने नहीं देते, भले ही वह बिंदु उस सिन्धु के समक्ष परिमाणतः नगण्य ही क्यों न हो।

भक्ति और प्रपत्ति—भक्ति और प्रपत्ति दोनों शब्द समानार्थवाची हैं। ईश्वर में परम अनुरक्ति को भक्ति कहते हैं, ऐसा पहले लिखा गया है। भगवद्रूप प्राप्य वस्तु की इच्छा रखनेवाले उपायहीन व्यक्ति की पर्यवसायिनी निश्चयात्मिका बुद्धि ही प्रपत्ति है। अतः प्रपत्ति में उपायान्तरों या साधनों का सर्वथा त्याग निहित है, किंतु भक्ति में साधन भी स्वीकृत हैं। प्रपत्ति भक्ति की वह चरम एवं तल्लीनावस्था है जिसमें भक्त अपने को भगवान् की शरण में छोड़ देता है। प्रपत्ति दो प्रकार की होती

है—(१) मार्जार-स्वरूपा, (२) मर्कट स्वरूपा। मार्जार और मर्कट—दोनों के शिशु साथ रहते हैं, किंतु जहाँ मार्जार स्वयं अपने बच्चे को पकड़े चलता है, वहाँ मर्कट के बच्चे उससे चिपके रहते हैं। प्रपत्ति की आदर्शावस्था तब होती है, जब भक्त सर्व धर्मों को छोड़कर उसकी शरण में पहुँच जाता है और वह सकल चिंताओं से मुक्त हो जाता है, उसकी चिन्ता स्वयं प्रभु करने लगता है।

प्रपत्ति के छह अंग माने गये हैं

१ आनुकूल्यसंकल्प
२ प्रातिकूल्यवर्जन
३. रक्षिष्यतीति विश्वास
४ गोप्तृत्ववरण
५. आत्मनिक्षेप
६. कार्पण्य

(१) ईश्वराराधन के लिए आवश्यक है कि प्रभु के अनुकूल अपना आचरण किया जाय, जहाँ काम है, वहाँ राम नहीं, जहाँ कपट, छल छिद्र है वहाँ प्रभु का निवास कैसे संभव है? इसलिए भक्त शरणागति के पूर्व से ही तदनुकूल आचरण करता है। देखें —

हरि भजन करो भू भार हरो,
भव सागर निज उद्धार तरो
गुरुजन की आशीष सीस धरो,
सन्मार्ग अभय होकर विचरो। —आराधना, पद सं० २१

तथा

दो सदा सत्संग मुझको।
अनृत से पीछा छुटे,
तन हो अमृत का रंग,
अशन व्यसन तुले हुये हों,
तुले अपने ढंग,
सत्य अभिधा साधना हो। —अर्चना, पद सं० २१

---

१ अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वास पूर्वकम्
तदेकोपायतायाः च प्रपत्ति शरणागति —साधनांक, कल्याण पृ० ६०

२ आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागति
—पांचरात्र, लक्ष्मी संहिता, साधनांक—कल्याण।

(२) आनुकूल्यसंकल्प के साथ ही प्रातिकूल्यवर्जन सम्बद्ध है। प्रपत्ति के बाधक जितने भी पदार्थ हैं सबको दूर से ही नमस्कार कर लेना चाहिए। निराला का कहना है :—

जब ईश्वर ने एक से एक आर्तों, अनाथों, दीन-दलितों का रक्षण किया है, तो वह निराला का नहीं करे, ऐसा संभव नहीं। ये पंक्तियाँ देखें :—

अशरण-शरण राम,
काम के छवि-धाम।
ऋषि-मुनि-मनोहंस
रवि - वंश-अवतंस
कर्मरत निश्शंस
पूरो मनस्काम। —आराधना, पद सं० ४८

(३) प्रभु को ही एक मात्र रक्षक चुनना गोप्तृत्ववरण है। संसार में जितने सगे-संबंधी हैं, वे कभी नहीं साथ देते, फिर रक्षा की आशा तो निराधार ही है। कवि कहता है :—

वही चरण शरण बने।
कटे कलुष गहन घने।
लगे हैं तुम्हीं से मन,
उर नूपुर मधुर-रणन
तुम्हारे अजिर, आँगन
मंगल के गीत गने। —आराधना, पद सं० ६० [१]

(४) आत्म निक्षेप में भक्त अपना सब कुछ प्रभु को मानता है।

तन, मन, धन वारे हैं
परम-रमण, पाप-शमन,
स्थावर-जङ्गम-जीवन
उद्दीपन, सन्दीपन,
सुनयन रतनारे हैं —अर्चना, पद सं० ४६

(५) अपने को तुच्छातितुच्छ अकिंचनाति-अकिंचन समझना कार्पण्य है; किंतु निराला के गीतों में उनका यह रूप दृष्टिगत नहीं होता। यह विवादरहित है कि वह अनन्त, सर्वशक्तिसमर्थ, विराट् एवं वरेण्य है; किन्तु यह जीव भी बिलकुल

---

१. इस प्रकार के अन्य गीत आराधना, ६२ तथा ६७ देखें।

उपेक्षणीय एवं महत्त्वशून्य नहीं। किन्तु थी मिथुना संभव नहीं यदि बूँदों का अस्तित्व न हो। महादेवी के रहस्यात्मक गीतों में यह भाव देखा जा सकता है।

भक्ति और मुक्ति :—वैष्णव भक्तों ने कभी भी मुक्ति की आकांक्षा नहीं की, क्योंकि मोक्ष के उपरान्त भक्त और भगवान् का संबंध ही समाप्त हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्टतः लिखा है।

ते जाने हरि भगति सयाने। मुकुति निरादरहि भगति लुभाने।

आधुनिक कवियों में मैथिलीशरण गुप्त तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी मुक्ति की अवहेलना की है, किन्तु निराला के भक्तिपरक गीतों में मुक्ति का आग्रह दीखता है।

तरणि तार दो
खे-खेकर थके हाथ,
कोई भी नहीं साथ,
श्रम-शीकर-भरा माथ,
बीच धार, ओ

—अर्चना, पद सं० ७२

शिल्प-योजना :—निराला के भक्ति परक गीतों में टेकयुक्त तथा टेकहीन दोनों प्रकार के पद हैं, किन्तु भक्त कवियों की तरह एक पाद पादाकुलक, शृंगार या चौपाई का टेक रूप में रखकर तथा रूपमाला, सार, विधाता सरसी, हरिगीतिका आदि के चरणों को अन्तरा की तरह प्रयुक्त कर गीतों का निर्माण नहीं किया है। टेकहीन पद तुलसीदास के शताधिक हैं। जैसे :—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥

—विनयपत्रिका, पद सं० ७९

इस तरह निराला ने बारह मात्राओं के दस चरण[1] सोलह मात्राओं के दस चरण[2], बीस मात्राओं के दस चरण[3], दस मात्राओं के दस चरण[4], सोलह मात्राओं के

१. आराधना, पद सं० १४, ६० तथा अर्चना, पद सं० ६१
२. आराधना ,, ,, २०
३. आराधना ,, ,, ७१
४. आराधना ,, ,, ४६, ४८

चौदह चरण,[5] बीस मात्राओं के दस चरण,[6] बारह मात्राओं के चौदह चरण,[7] चौदह मात्राओं के चौदह चरण,[8] दस मात्राओं के चौदह चरण,[9] सोलह मात्राओं के बारह चरण,[10] दस मात्राओं के सोलह चरण,[11] बारह मात्राओं के चौदह चरण[12] वाले टेकयुक्त पदों की रचना की है। ऐसे सममात्रिक चरणों की आवृत्ति वाले पद शरद्-ज्योत्स्ना की भाँति भक्त-मानस को आप्लुत-आप्यायित कर देते हैं।

यहाँ भक्त-कवियों से एक अन्तर और दर्शनीय है कि उन्होंने सममात्रिक चरणों की संख्या इतनी नहीं बढ़ायी है। जहाँ निराला एक गीत में सोलह पंक्तियाँ रखते हैं वहाँ तुलसी और सूर के आत्मपरक गीतों में आठ-दस पंक्तियाँ ही पर्याप्त हैं। छंदों की प्रलंबता का प्रश्न जहाँ उठता है वहाँ भक्त कवि गीतों में बड़े लम्बे छन्दों का प्रयोग करते हैं। ऐसी बात नहीं कि भक्त कवियों के गीत बिलकुल कम मात्राओं वाले छन्द के नहीं हैं, फिर भी दण्डकों का प्रयोग कम नहीं हुआ है। छंदों के चरण चाहे जितने भी एक गीत में हों उससे उतनी हानि नहीं होती, जितनी दीर्घ प्रसारी छंदों से होती है। अधिक मात्रा वाले छंदों से समुचित गायन-प्रभाव उत्पन्न करना संभव नहीं। छंद के मात्रा-उच्चार में ही गायक का दम फूलने लगता है, मीड़ मूर्च्छना उत्पन्न करने की गुञ्जाइश ही नहीं रहती।

टेकयुक्त पदों में भी निराला ने निरालापन दिखलाया है। ये टेकयुक्त पद भी विनयपत्रिका या सूरसागर से बिलकुल भिन्न प्रतीत होते हैं। नीचे कुछ पदों को देखें—

मेरी सेवा ग्रहण करो हे!
शुद्ध सत्त्व से चण-चण यह
काष्ठा से रहित शरीर भरो हे!

—आराधना, पद सं० २१

तन, मन, धन वारे हैं
परम रमण, पाप-शमन,

---

५. आराधना—८८ तथा अर्चना—५१, ५३, ५४, ५७, ५८
६ आराधना – २१
७ अर्चना – ३
८. अर्चना – २७, ५६, ८
९. अर्चना – ६०
१ अर्चना – ४४
११ अर्चना – २६
१२ अर्चना – ५५

स्वाधर - उद्गम-जीवन ;
उद्दीपन, सन्दीपन।
सुनयन रतनारे हैं।

—अर्चना, पद सं० ५९

ऐसे भी बहुत पद हैं जिनमें कवि का ध्यान टेकहीनता या टेकयुक्तता पर केंद्रित न रहकर, तालनियोजन पर रहता है। उदाहरण के लिए एक दो पद की कुछ पंक्तियाँ देखें—

दो सदा सत्संग मुझको।
अनृत से पीछा छुटे,
तन हो अमृत का रंग,
अशन-व्यसन छुटे हुए हों,
मुझे अपने ढंग ;
लगें तुममें तन-वचन-मन
दूर रहे अनङ्ग। —अर्चना, पद संख्या २१

तथा

तरणि तार दो
अपर पार को।
खे-खेकर थके हाथ,
कोई भी नहीं साथ,
श्रम-शीकर भरा माथ,
बीच - धार, ओ!
पार किया जो कानन ;
मुरझाया जो आनन,
आओ हे निर्वारण,
विपत वार ओ। —अर्चना, पद सं० ७२

इसके अतिरिक्त चौथे प्रकार के भी कुछ पद लिखे हैं जिन्हें स्तोत्र-पद्धति वाले पद कहते हैं। ऐसे पद जगद्धर भट्ट की 'स्तुतिकुसुमांजलि' तथा 'विनय-पत्रिका' में देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार निराला ने भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए नई विधियों एवं नई शैलियों का अन्वेषण किया है। गतानुगतिक पद्धतियों से भाव-संप्रेषण संभव नहीं होता, ऐसा तो पथ-निर्माता कवि ही जानता है।

इसलिए अंत में हम निःसंकोच कह सकते हैं कि भक्तिपरक गीतों के सृजन में भी निराला ने अभूतपूर्व सफलता पायी है। आधुनिक विज्ञानवादी, शंका-संकुल, द्विधा-विजड़ित युग में शायद ही कोई हिंदी का कवि मिले जिसमें निराला जैसी आस्तिकता एवं भक्तिपरकता देखी जाय। विनयवश निराला ने 'अर्चना' की प्रस्तावना में लिखा है—"रस-सिद्धि की परताल कीजिएगा तो कहना होगा कि हिन्दी के भाषा-साहित्य में ज्ञानी और भक्त कवियों की पंक्ति की पंक्ति बैठी हुई है, जिनकी रचनाएँ साधारण जनों के जिह्वाग्र से अमृत की धारा बहा चुकी हैं, ऐसी अवस्था में लोकप्रियता की सफलता दुराशामात्र है।" किन्तु लोकप्रियता एवं रसनीयता की दृष्टि से भी निराला के भक्तिपरक गीत अनन्वित हैं।

पंत और प्रकृति

मातृ-कुक्षि से बाहर निकलने के बाद से ही प्रकृति के नयनाभिराम दृश्य मानव के अंतस्-जगत् में अज्ञातरूप से भावनाओं के इन्द्रजाल बुनते रहते हैं। परन्तु उस मानव के भाग्य का क्या कहना जिसने नगरों के गर्द-गुब्बार-मय, दुर्गंध एवं सड़ाँध से आकुलाये मकानों के बीच प्रथम रश्मि का विकृत मटमैला स्वरूप देखा है। सुमित्रानन्दन पंत को जन्मभूमि प्रकृति का ऐसा रम्याचल है जो किसी अकवि को भी कवि बना दे सकता है। जैसा उन्होंने लिखा है—'कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्माचल प्रदेश को है। कवि जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौंदर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँदकर लेटता था तो वह दृश्यपट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था और यह शायद पर्वत-प्रान्त के वातावरण ही का प्रभाव है कि मेरे भीतर विश्व और जीवन के प्रति एक गंभीर आश्चर्य की भावना, पर्वत की तरह निश्चित रूप से अवस्थित है।''

किन्तु क्या स्विट्जरलैंड एवं काश्मीर के पल-पल परिवर्तित, प्रकृति-नटी के सौंदर्य का मायालोक सबों को कवि बना देता है? बात यह है कि पंत के कोमल हृदय-थाले में प्रकृति सुषमा ने बीजवपन किया तथा तात्कालीन परिवेश ने उसे अंकुरित-पल्लवित पुष्पित किया है।

भारतीय साहित्य में बाल्मीकि, कालिदास, और भवभूति जैसे वरेण्य कवियों को छोड़कर प्रकृतिवर्णन सेकेंडहैंड ही रहा है। उसमें स्वतन्त्र पिपासा नहीं। वह तो किसी की इच्छा का क्रीड़ा-कन्दुक मात्र है। मध्यकालीन संतों ने नीतिनिर्धारण के लिए प्रकृति को तो उपदेशिका ही बना डाला। रीतिकालीन कवियों की प्रकृति उद्दीपन विभाव में आलेखित है और द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की अमरबेलि तो प्रकृति पर भी छाकर ही रही। प्रकृति जो चेतन है, जिसमें कामना और वासना है, जिसे स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, जो स्वतन्त्र आचरण कर सकती है, ऐसा चित्रण तो छायावाद युग से पूर्व कल्पना में भी न आ सका। अतः छायावाद के इस आंदोलन का भी प्रभाव पंत पर कम नहीं पड़ा। साथ ही साथ, 'मैंने १६ वीं सदी के अंग्रेजी कवियों में शेली, वर्ड्सवर्थ, कीट्स और टेनीसन का विशेषकर अध्ययन किया है और ये कवि मुझे अत्यंत प्रिय भी लगे हैं।'

अतः इन चार उपादानों ने पंत को प्रकृति का अमर पुजारी एवं गायक बना दिया है। पंत की प्रकृति अति मृदुल मसृण है। इसके उग्ररूप कम ही दीख पड़ते हैं। प्रसाद की प्रकृति विशेषतः उनके काव्य में पृष्ठभूमि का कार्य करती है। निराला की प्रकृति पर अगर दर्शन का घटाटोप है, तो महादेवी की प्रकृति रहस्य की मिहिका ओढ़ आई है। पंत की प्रारंभिक कविताओं में प्रकृति अपने सद्य विकसित यौवन के भारावनत शृंगार से आनत है। पंत की प्रकृति तीन युगों में तीन रूपों में उपस्थित हुई है। ये हैं—

१ वीणा ग्रन्थि पल्लव-युग

२ युगांत युगवाणी ग्राम्या-युग

३ स्वर्णकिरण से लोकायतन तक

'वीणा' में जो भावुक किशोर शब्दों की गुड़िया को कुशलता से पिरोना सीख रहा था, उसकी कविता में प्रकृति ही अनेक रूप धरकर चपल मुखर नूपुर बजाती हुई, अपने चरण बढ़ाती दीख पड़ती है। समस्त काव्यपट प्राकृतिक सौंदर्य के धूपछाँही धागों से बुना है। वृक्षों की मोहक मादक छाया, नर्तित घूर्णित लहरें तथा नभ के इन्द्र धनुषी वितान ने कवि कल्पना पर सम्मोहन कर दिया है। वह प्राकृतिक दृश्यों के समक्ष अपनी प्रेयसी तक को भूल जाना चाहता है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?

'ग्रन्थि' की असफल प्रेम गाथा तो प्रकृति क्रोड में ही घटित होती है अथवा सलिल-शोभना प्रकृति बाला ही कवि की प्रेयसी बन आयी है। 'पल्लव' की पुलकित डाल तो कवि को और ही अपनी ओर आकर्षित करती है। मूक कोकिल के मादक गान तन मन-बन्धन छीनकर मधुरता में अनजान बहा लते हैं। 'वीणा' की अज्ञात-यौवना रहस्य प्रिय बालिका अब अधिक चंचल मुखर मुग्ध युवती के रूप में उपस्थित हुई है। उसे तुहिन के तन में छिपे स्वर्ण जाल का आभास मिलने लगा है तथा उषा की स्मित रेखा कनकमदिर लगने लगी है। सरोवर की चंचल लहरें उससे आँख मिचौनी खेलती हैं। उसकी सुकुमारता एवं साहचर्य में प्रकृति की सारी वरद वस्तुयें समाविष्ट हो गयी हैं। उसके संग में पावन गंगास्नान का पुण्यलाभ है और वाणी में त्रिवेणी की लहरों का गान आबद्ध है। इतना ही नहीं 'मधुप-कुमारिका' से वह मीठे गान भी सीखना चाहता है। प्रकृति और मानव के ऐसे तादात्म्य से विस्मय विमुग्ध होना पड़ता है। 'मुग्ध शिल्पी के नृत्य मनोहर' बादल शेली के Cloud की याद दिला देता है तथा 'आँसू' का पावस वर्णन रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता 'मेघेर परे मेघ जमेछे' की स्मृति।

सर्वत्र कवि प्रकृति की सम्यमाधिता और ऐन्द्रजालिकता पर मुग्ध है। पंत की दशा वही मालूम पड़ती है जो वर्ड्सवर्थ की प्रारम्भिक अवस्था थी।

For nature then
To me was all in all, I can not paint
What then I was. The sounding cataract
Haunted me like a passion; the tall rock,
The mountain, and deep and gloomy wood,
Their colours and their forms, were then to me
An appetite;

—*Tintern Abbey*

किन्तु यह ध्यातव्य है कि प्रकृति का एकाध उग्र रूप, जैसा कि प्रसाद के प्रलय-दृश्य में मिलता है, पल्लव की 'परिवर्तन' कविता में भी है। टेनीसन ने जो 'नेचर रेड इन टूथ एण्ड क्लॉ' की बात कही है इसका संकेत यहाँ मिल सकता है—

रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल;
शून्य निःश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिंधु विशाल!

'गुञ्जन' पंत के संक्रान्तिकालीन जीवन की रचना है। विश्व वेदना में प्रतिपल जलकर तथा जग-जीवन की ज्वाला में गलकर कवि का रूप बदल गया है। शास्त्र-चिन्तन और आत्म मथन ने प्रकृति-दर्शन की दृष्टि ही बदल दी है। अब चाँदनी उसके लिए जगती के दुःख दैन्य शयन पर रुग्ण जीवन बाला की तरह मालूम पड़ती है। तापसबाला गंगा निर्मल तो दीखती है, उसके शशि-मुख से दीपित मृदु करतल तो है, लहरें उस पर कोमल कुंतल के सदृश भले लहराती हैं और चचल अंचल के समान नीलाम्बर तो है किन्तु यही चित्र अन्त-अन्त तक ठहर नहीं पाता। उसे चिर जन्म-मरण के आर-पार शाश्वत जीवन नौकाविहार की सुधि आ जाती है।

युगांत ग्राम्या युगवाणी में तो कवि और परिवर्तित दृष्टिगोचर होता है। "सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर, मानव तुम सबसे सुन्दरतम!" इसलिए इन ग्रन्थों में आप टेढ़ी-मेढ़ी पतली ठूँठ टहनियों के वन का दूर तक फैला हुआ वासांसि जीर्णानि विहाय""सौंदर्य देखेंगे, जिससे नव प्रभात की सुनहली किरणें बारीक रेशमी जाली की तरह लिपटी हुई हैं, जहाँ ओसों के झरते हुये अश्रु आगत स्वर्णोदय की आभा में हँसते हुये से दिखाई देते हैं, शाखा-प्रशाखाओं के अंतराल से—जिनमें अब भी कुछ विवर्ण पत्ते अटके हुये हैं—छोटे-बड़े, तरह-तरह के भावनाओं के नीड़, जाड़े की ठिठुरती काँपती हुई महानिशा के युगव्यापी त्रास से मुक्त होकर नवीन कोंपलों से

छनते हुए नवल आलोक तथा नवीन उष्णता का स्पर्श पाकर फिर से संगीतमुखी होने का प्रयास कर रहे हैं। पंत का कवि वर्ड्सवर्थ, शैली से ऊपर उठकर काट, बर्कले, हीगल, मार्क्स-गाँधी की कोटि में आ गया है। भावना के पंख को मार्क्सवाद ने काट दिया है, अतः कल्पना संपाती के समान विजय सिंधु तट पर पुनः साधना करने लगी है। धोबियों-कहारों के नृत्य से रस लेना जिसे अभीष्ट है, बाँसों के झुरमुट में नापते डग धरने वाले श्रमजीवी ही जिसे याद हैं, वह भला प्रकृति की एकांत सुन्दरता का ध्यान कैसे रखे? लेकिन हाँ 'ग्राम श्री' में गाँवों की सब्जी, फूलों, पक्षी का अच्छा लेख मिल जायगा।

'स्वर्ण किरण' से 'लोकायतन' तक हम पंतजी को बिलकुल नव्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित पाते हैं। बीच में क्षेपक-सा 'कला और बूढ़ा चाँद' भले आया है किन्तु यह प्रयास नयी बोतल में पुरानी शराब भरने जैसा है। स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, रजत-शिखर, उत्तरा, वाणी, मानवी, चिदम्बरा, हरी बाँसुरी पीली टेर में कवि आत्म चेतना और लोक की सीढ़ियों को पारकर ऊर्ध्वचेतना की ओर बढ़ चुका है। अरविन्द के अतिमानसवाद का कवि पर गाढ़ा प्रभाव है। इसलिये वह मानव के स्वरों के विश्लेषण में व्यस्त-व्यग्र है। उसके समक्ष तो एक नया क्षितिज स्वर्ण-किरणों से प्रोद्भासित होनेवाला है। इसलिए उसका प्रकृति-वर्णन आज उपेक्षित-सा है। जिस हिमालय के सौंदर्य-वर्णन में कालिदास नवीन उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं के गवाक्ष खोलते थे वही हिमाद्रि पंत के लिए घनीभूत आध्यात्मिक तत्त्व के समान मालूम पड़ता है जिससे शत ज्योतिशशि निःसृत हैं। जिस इन्द्रधनुष को देखकर वर्ड्सवर्थ ने कहा था—

My heart leaps up when I behold
A rainbow in the sky

—उसी से पंत 'असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मामृतम् गमय' तथा 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का संकेत प्राप्त कर रहे हैं। 'सावन' और 'तालकुल' रचना में कुछ स्वाभाविकता अवश्य है किन्तु 'दादुर टर टर करते, म्याऊँ म्याऊँ रे मोर, हरित चूड़ कूक्डू कूँ, कुक्कुट' आदि वर्णाक्त ध्वनियाँ खलती अवश्य हैं।

'उत्तरा' में प्रकृतिचित्रण अतीन्द्रिय सौंदर्य के उद्घाटन के लिए हुआ है। पंतजी की 'अतिमा' में चन्द्र के प्रति, गिरि प्रान्तर, पतझर, स्फटिक वन, कूर्माचल के प्रति प्रकृति वर्णन की रचनायें हैं। पतझर में कवि की पिरामिड शैली की बहार देखते बनती है। 'कूर्माचल के प्रति में' कुछ स्वाभाविकता अवश्य अवशिष्ट है। इस कविता में भरी दुपहरी में मेघों की शिराओं के समान बादल, गरजती गुहा, भरी दुपहरी में ऊँघते पथिक-सा ग्रीष्म, स्वर्ण हास्य सदृश पिघलता हिम—सब कुछ ग्रीष्म-पावस शरद की शोभा एकत्रित मिलगी। त्र्यम्बक की धवल हँसी के समान विराट्

हिमालय की भव्यता का दर्शन इस कविता में भी उपलब्ध होगा लेकिन अरविन्दवाद का जादू बोलता ही रहेगा—

> निश्चय, भूमा की आकृति में यह मृण्मय भूनिर्मित
> धन्य प्राण मन जीवन के वैभव से झंकृत,
> हरित प्रसारों, नीलोच्छ्रायों, स्वर्ण गहनताओंमय
> यशश्चूड़ शुभ इस वसुधा के शाश्वत रश्मि मुकुट भृत,
> दिक् शय्या पर चिदानन्द में कालोपरि सत् पर स्थित,
> ध्यानावस्थित ऊर्ध्वभाल पर नव लेखा शशि स्मित, जय॥

इस प्रकार के बौद्धिक प्राणायाम से प्रकृति-सौंदर्य विनष्ट होता दीखता है। वीणा से लोकायतन तक यदि पंत का मानवतावादी दृष्टिकोण पुष्ट से पुष्टतर हुआ है तो तटस्थ, निरपेक्ष, स्वाभाविक प्रकृति-निरीक्षण एवं चित्रण क्रमशः ह्रासोन्मुख। कीट्स ने ठीक ही कहा है—

All charms fly at the mere touch of cold Philosophy.

महादेवी का दीपक-प्रेम

विश्व-काव्य की बात नहीं कहता, हिन्दी कविता में दीपक शब्द का जिन्होंने सर्वाधिक प्रयोग किया है, उनमें महादेवी ही कनिष्ठिकाधिष्ठित होंगी। स्वयं महादेवी की कविताओं में भी जो शब्द सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है, वह यही दीपक[1] है। काव्य-साधना के पाँचों यामों में महादेवी का जीवन दीप निष्कंप-निर्वात प्रज्वलित होता रहा है। उनका विराट् व्यक्तित्व यदि किसी लौकिक पदार्थ के साथ ऐकांतिक आत्मीयता ढूँढ़ पाता है, तो वह दीपक ही है। दीपक सचमुच ऐसा सौभाग्यशाली है जिसके साथ वह सामीप्य, सालोक्य ही नहीं वरन् सायुज्य भी स्थापित करती है।

वैसे तो महादेवी दीपक का प्रयोग उपमा या रूपक के रूप में अनेकधा करती हैं, किंतु इससे बढ़कर दीपक समग्र मानव-जीवन के प्रतीक स्वरूप व्यवहृत हुआ है। उपमा या रूपक का अलंकारवत् प्रयोग देखें—

(१) नेत्र के लिए—दृग मेरे दो दीपक झिलमिल —सान्ध्यगीत, पृ० १६

(२) प्राण के लिए—प्राणों का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली॥ —नीहार, पृ० १३

× ×

तेरे हित जलते दीपक-प्राण —नीरजा, पृ० ६६

---

१ नीहार पृ० सं० १, ८, ९, १३, १३, १८, १९, २०, २१, २८, २८, ३३, ४२, ४२, ४६, ४८, ५१, ६१, ६१, ६१, ६१, ६१, ६३, ६९ = २५ बार।

रश्मि पृ० सं० (यामामकलन से) — ७१, ७८, ८२, ८६, ९०, ९५, ९७, ९८, ११४, ११५, ११७, १२५ = १२ बार।

नीरजा ,, ,, ११, १७, १७, १७, १९, २१, २५, २७, ३१, ३७, ५१, ५१, ५४, ५३, ६३, ६३, ७३, ७३, ७३, ८९, ८९, ९९, ९९, ९९, ९९, १०३ = २६ बार।

सान्ध्यगीत ,, ,, १९, २०, ३३, ३५, ३६, ४४, ४४, ४८, ५०, ५३, ५४, ५५, ५८, ६०, ६६, ६७, ६७, ७०, ७४, ७८, ७९, ७९, ७९, ७९, ७९, ८२, ८६, ८९ = २८ बार।

दीप शिखा ,, ,, १, १, ४, ५, ५, ८, ९, १२, १३, १४, १४, १६, १७, १८, १८, २३, २३, २८, ३४, ३८, ३८, ४०, ४३, ४५, ४६, ४७, ४८, ५० = २८ बार। कुल = ११९ बार।

(३) मन के लिए—आलोक यहाँ लुटता है
बुझ जाते हैं तारागण,
अविराम जला करता है
पर मेरा दीपक-सा मन! —नीहार, पृ० २१

× ×

स्नेह भरा जलता है झिलमिल
मेरा यह दीपक-मन रे! —नीरजा, पृ० १३

× ×

मोम-सा तन घुल चुका
अब दीप-सा मन जल चुका है। —दीपशिखा, पृ० २२

(४) जीवन के लिए—दिया क्यों जीवन का वरदान?
सिकता में अंकित रेखा-सा
वात विकम्पित दीप-शिखा-सा। —रश्मि, पृ० १७

× ×

सूने में सस्मित चितवन से रश्मि, पृ० ६७
जीवन दीप जला जाता।

(५) वेदना के लिए—जला वेदनाओं के दीपक
आई उस मंदिर के द्वार।। —नीहार, पृ० ६६

(६) आशा के लिए—बुझेगा जलकर आशादीप,
सुला देगा आकर उन्माद। —नीहार, पृ० ३३

(७) अन्तर्हित अनुराग के लिए—आलोकित करता दीपक-सा।
अन्तर्हित अनुराग! —रश्मि, पृ० १०४

(८) अन्तरतल के लिए—दीपक-सा जलता अन्तरतल। —नीरजा, पृ० २५

इस प्रकार महादेवी ने अलंकारविधान या बिम्ब योजना के लिए दीपक चुना है, किन्तु इस प्रकार का प्रयोग साहित्य में चिर नवीन हो, ऐसा मानना भ्रामक होगा। कालिदास की इन्दुमती स्वयंवर में संचारिणी दीप शिखा सी प्रतीत होती है। तुलसी की सीता भी छविगृह में दीप शिखा सी बनती देखी गयी। इतना ही नहीं, उन्होंने 'दीप-शिखा सम युवती तन' कहा। बिहारी ने भी नायिका के शरीर के लिए दीपक की

उपमा दी है। 'जदपि सुन्दर सुघट पुनि सगुनो दीपक देह' या 'अग अंग नग जगमगै, दीप सिखा सी देह' जैसी पंक्तियाँ प्रमाण स्वरूप हैं। गौतम बुद्ध न आत्मा के लिए दीपक को उपयुक्त समझा है। वे कहते हैं —

अत्तदीपा अत्तसरणा अनन्नसरणा
धम्मदीपा धम्मसरणा होत।
—महापरिनिब्बाण सुत्त ३३

अर्थात् हे भिक्षुओं! आत्मदीप बनकर विहरो। तुम अपनी शरण जाओ। किसी दूसरे का सहारा मत ढूँढो। केवल धर्म का अपना दीपक बनाओ। केवल धर्म की ही शरण जाओ।

इस तरह यद्यपि हमें दीपक सबधी प्राचीन प्रयोग भी मिलते हैं, किन्तु इतनी व्यापक पृष्ठभूमि में इसका उपयोग दुर्लभ है। सिद्धों न काया के प्रतीक रूप में तरुवर को अपनाया है। कबीर न घट, चदरिया आदि को। महादेवी न दीपक को केवल तन के लिए नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव जीवन क लिए ग्रहण किया है। मानस का ताप पूर्णत मूक कर, सारा उन्माद सुलाकर, प्राणों को चुपचाप जलाकर, अन्तर्नाद अन्तर में छिपाये, अहनिश यह जीवन दीप जला सकता है। पता नहीं, इस दीप न प्रीति की रीति कहाँ सीखी? अन्तस्तल में रहस्य चुराकर, भल प्राण भस्म हो जाएँ, किन्तु इसके मुँह पर आह की एक हल्की लकीर भी नहीं खिचती। गात इसका क्षार भल होता है, किन्तु यह मौन रहकर प्रतीक्षा का पन्थ आलोकित करता है। इसक पास पीडा भी सज्ञाहीन रहती है, उद्गार साधना में डूबी रहती है तथा ज्वाल में निस्तब्ध समाधिस्थ यह प्यार को स्वर्ग बनाता रहता है। चिता ही इसकी प्यारी मीत है, किन्तु कुछ परवाह नहीं, यह सोन-सा प्यार लुटा कर अन्तर्धान हो जायगा।

कवयित्री के मन में जिज्ञासा होती है कि उसके जीवन दीप का निर्माण किन उपकरणों से हुआ? किस पदार्थ का तेल उसमें जलता है, किसकी वर्तिका है तथा ज्वाला के साथ इसका मेल करानवाला कौन है? शून्य काल क पुलिनों पर चुपके से आकर कौन रहस्यमय इसे लहरों में बहा जाता है? आदि आदि।

कवयित्री यह नहीं चाहती कि उसका जीवन दीप न जल। वह तो मधुर मधुर जलकर युग-युग, प्रतिदिन, प्रतिक्षण, प्रतिपल प्रियतम का पथ प्रकाशित करता रहे। उसका सौरभ विपुल धूप बन फैल गया है, मृदुल मोम की तरह उसका तन घुल रहा है, फिर भी उसकी कामना है कि उसके जीवन का अणु अणु गल-गल कर सर्वत्र आलोक का अपरिमित अर्णवदान कर। नभ में असख्य दीप जलते हैं, जलमय सागर का उर भी जलता है, बादल भी विद्युत् लकर जलता है, सर्वत्र जलन ही जलन है, दाह ही-दाह है, तो फिर उसका जीवन-दीप क्यों न विहँस विहँस जल?

विरोधाभास भी कवयित्री के जीवन का सश्रय पा कृतार्थ हो जाता है। वह शापमय वर है तथा किसी का निष्ठुर दीप है। किन्तु इससे वह अपन को दीना हीना

यद्यपि नहीं मानती, वह तो साम्राज्ञी है। इस साम्राज्ञी के मुकुट जलती शिखाएँ हैं। उड़ने वाली चिनगारियाँ शृंगारमाला हैं। नाश में सतत जीवित, वह किसी की सुन्दर साध है।

सब बुझ गये हैं, अतः वह जीवन दीपक रागिनी जगा लेना चाहती है। किन उपकरणों का यह दीपक है—यह पुरातन प्रश्न अनुत्तरित न रह जाए, अतः वह कहती है कि इसकी लय ही मृदु वर्तिका है, हर स्वर लजीली लौ बन गया, स्नेह गीली झंकार आलोक सी फैल रही है, अतः इस मरण पर्व को वह दीपोत्सव बना लेना चाहती है।

कवयित्री का जीवन दीप साधारण नहीं, वरन् यह तो मंदिर का पवित्र दीप है। जब रजत शंख, घड़ियाल, स्वर्णवंशी, वीणा की लय समाप्त हो गयी है, जब केवल तिमिर ही तिमिर है और उस मंदिर में अकेला इष्ट, तो वह उस अजिर का शून्य जलाने में स्वयं जल जाना चाहती है। विश्व पुजारी भी पल के मनके फेर सो गया है, प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों के बीच सो गया है, मुखर कण कण का स्पन्दन रुक गया है, तो वह इस ज्वाला में अपने प्राण पुनः ढल जाने देना चाहती है। अभी झंझा भी दिग्भ्रान्त हो चली है अतः ऐसी वेला में ज्योति का लघु प्रहरी—उसका लघु जीवन दीप ही पुजारी बनना चाहता है। जब तक दिन की हलचल न लौटे, तब तक उसका जीवन-दीप प्रतिपल जागेगा। वह और कुछ न चाहती। बस इतना ही कि उसका सन्ध्या दूत प्रभात तक चलने का अधिकार पा जाए।

कवयित्री यह नहीं चाहती कि उसका प्रियतम थोड़ी-सी साधना से पिघलकर उसके पास चला आये। जब उसका जीवन दीप बिलकुल थक जाए, जल जाए, तभी वह आये। वह अपनी साधना के मध्य में किसी प्रकार का व्यवधान-व्याघात नहीं चाहती। रात भर शलभ जल जल कर अपने को दीपकमय कर देता है। ठीक उसी तरह प्रियतम की दीप-सुधि में जल जलकर कवयित्री भी दीपकमय हो जाती है। उत्कट आत्म समर्पण में तन मन प्राण का द्वैत सम्भव नहीं, आश्रय आलम्बन का द्वैत सम्भव नहीं। 'अनुखन माधव माधव रटइत राधा होत मधाई'। कवयित्री के तन मन प्राण में उसी अपरूप की रूप ज्वाला धधक रही है। अतः उसका तन दीपक, मन दीपक, प्राण दीपक, जीवन दीपक, प्रियतम की सुधि दीपक, वेदना दीपक—'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' की स्थिति हो गई है। ऐसी आत्मलीनता की स्थिति में प्रियतम की अमा-छुब्ध अनुरुध्या प्रणयिनी के प्रेम की दीपावली से प्राद्भासित हो उठती है। यही रहस्य है महादेवी के दीपक अनुराग का। महादेवी को सर्वत्र दीपकमय वैसे ही लगता है जैसे

प्रासादे सा दिशि विदिशा सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हं हो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥

—अमरुशतकम्

उर्वशी का अप्सरा-वर्णन

कोई भी महान कवि शून्यस्थित नहीं होता। उसकी ग्राहिका अन्तरात्मा आवेष्टन की ध्वनितरंगों को कर्षित कर पुनः प्रसारणकार्य में निरत हो जाती है। प्रत्येक कविता अपने समय का अवक्षेप है जैसा ऑक्टेभियो पाज (Octavio Paz) ने मैक्सिको की कविता की भूमिका में लिखा है। (Every poem is a precipitate of pure time)। यदि उर्वशी महाकाव्य अपने युग का अवक्षेप है, तो इसके अप्सरा-वर्णन के औचित्य एवं संकेतार्थ पर विचार करना आवश्यक है।

अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय साहित्य में अप्सराओं का वर्णन होता आया है। अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में अप्सरा जल पर विहार करनेवाली है। (अप्सु सरन्ति याः ताः अप्सरसः) और इसकी पुष्टि अथर्ववेद तथा यजुर्वेद से हो जाती है। शतपथ ब्राह्मण (११/५/१/४) में जल-संतरण करनेवाले पक्षियों के रूप में ये चित्रित की गयी हैं। जल के अतिरिक्त इनका संबंध वृक्षों से भी रहा है और अथर्ववेद (४/३४/४) के साक्ष्य से ये अश्वत्थ तथा न्यग्रोध वृक्षों पर रहती हैं जहाँ ये झूलों पर पेंग भरती हुई अपने मधुर वाद्यन से दिग्दिगन्तों को अनुगुंजित कर देती हैं।

पुराण-युग में इन अप्सराओं का प्रवेश इन्द्र-प्रासाद में हो जाता है। इन्द्र अपने वज्रायुधों से दानव दैत्य का संहार करते हैं और अप्सराओं के सुकुमार प्रहरण से तपोलीन तापस मुनियों का समाधि भंग कराते हैं। इन्द्र-सभा इन अप्सराओं के सतत गायन तथा नर्तन से आह्लादित रहा करती है। अतः प्राचीन काल से ही अप्सरायें अपने मोहक सौंदर्य के कारण मोहन, उच्चाटन तथा वशीकरण की उपकरण समझी जाती रही हैं। अतः जो अरुणा, घृताची, उर्वशी, तिलोत्तमा, केशी, मिश्रकेशी, मञ्जुघोषा, अलम्बुषा, पद्मचूडा, रम्भा, विद्युत्पर्णा, सुबाहु, सुरता, सुप्रिया उम्रम्प्रया आदि अपने वेधक सौंदर्य तथा आविष्टक आकर्षण के कारण कभी गंधर्वलोक को अनुरंजित तथा तपोलोक को विक्षुब्ध करती रही होंगी, उनके विस्तृत या संकुचित वर्णन से हमारे साम्प्रत समाज तथा जीवन का क्या संबंध है, यह विचारणीय हो उठता है। कवि चाहे सत्ययुग की कथा से या त्रेता-द्वापर की, उसे उसका चित्रण अपने युग की पृष्ठभूमि पर ही करना पड़ता है। दिनकर ने उर्वशी में अप्सराओं

का विस्तृत वर्णन किया है। उसका औचित्य तो परिवेश के अनुरूप ही ढूँढ़ना होगा।

१. ये अप्सरायें प्रेम के लिए प्रेम नहीं करतीं। इनके लिए प्रेम जीवनोत्सर्ग नहीं, व्रत नहीं। प्रेम मानवी की निधि भले हो सकती है किंतु वह तो अप्सराओं के लिये क्रीड़ा-मात्र है। अप्सरायें प्रेम का स्वाद भर लेती हैं किन्तु मानवी तो जीवन-पर्यंत उसकी आकुल पीड़ा से बेचैन बनी रहती है।

२. अप्सरायें उन्मुक्त प्रेम की वकालत करती हैं। वे कभी एक पुरुष के परिरंभ-पाश में बन्दी होना नहीं चाहतीं। उन्हें नित नये वक्ष का आकुल आलिंगन तथा नित नये अधरों का व्याकुल फेनिल चुंबन चाहिये। अपने रूप के जादू से नित नवीन को फाँसना उनका प्रिय व्यापार है। पंक्तियाँ देखें—

सृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन में
किसी एक के लिए सुरभि हम नहीं सँजोती तन में।
× × × ×
अपना है आवास न जानें कितनों की चाहों में
कैसे हम बँध रहें किसी भी नर की दो बाँहों में।

३. ये नन्दनवासिनी परिणीता होना नहीं चाहतीं। किसी एक खूँटे में बँधकर जिंदगी गर्क करना नहीं चाहतीं। वे सृजन की प्रेरणा भले जगाती हों किन्तु विवाहिता होकर दुःसह प्रसव-पीड़ा के रौरव में चीखना-चिल्लाना नहीं चाहतीं।

रचना की वेदना जगातीं, पर, न स्वयं रचतीं हम
बँधकर कहीं विविध पीड़ाओं में न कभी पचतीं हम।

मातृत्व की अबतक बड़ी प्रशंसा की गयी है किन्तु यह सब बकवास है, प्रलाप है। माता बनकर तन शिथिल हो जाता है और यौवन गल जाता है, ऐसा उनका विचार है।

इसलिए चित्रलेखा, रंभा तथा सहजन्या स्वच्छंद प्रेम का समर्थन करती हैं, विवाहबंधन तथा संतानोत्पादन से कोसों दूर भागती हैं। दुर्योगवश अगर ये कहीं किसी बंधन में बँध गयीं तो ये अपने नवजात शिशु को दूसरों पर छोड़कर निर्बाध विलास-क्रीड़ा में रत हो जाती हैं और पुत्र के युवा होते ही अपने पुराने प्रेमी को छोड़कर भाग खड़ी होती हैं।

उर्वशी में चित्रित अप्सराओं के चरित्र की ये ही स्थूल दिशाएँ हैं, ये ही क्रॉस-सेक्सन हैं। आज समग्र संसार में यह फैशन चल गया है कि किशोरियाँ संतानोत्पत्ति की झंझट से बचना चाहती हैं। भारत में भी आधुनिकाओं की संख्या

में चक्रवृद्धि हो रही है जो अपने रूप के डोरे डालकर दिलफेंक अलमस्तों को फाँसना अपना परम धर्म समझती हैं तथा गर्भ को हिमालय बोझ। ये तरह-तरह की गर्भ-निरोधक ओषधियों के द्वारा अपना मुक्त विलास वर्द्धमान रखना चाहती हैं। खुदा न खास्ते यह बला सिर पर आ ही गयी तो बहुत विचार-विमर्श के बाद, आरजू-मिन्नत के बाद जस-तस ढोती हैं।

उर्वशी के कवि की दृष्टि धरती से आकाश और आकाश से धरती की ओर जाने वाली विलक्षण दृष्टि है। (The poet's eye in a fine frenzy rolling, doth glance, From heaven to earth and from earth to heaven—Shakespeare) उर्वशी का अप्सरा-चित्रण उसके दृष्टि-निक्षेप का भूपक्ष है जिसमें वह पुराकालीन अप्सराओं के माध्यम से आज की स्वच्छंद उन्मुक्त विलासिनी रमणियों का यथार्थ चित्रण करता है।

महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में अप्सराओं की संख्या साठ करोड़ बतलायी है (षष्ठि कोट्यो भवेस्तासामप्सराणा सुवचसाम्)। यह सूचना कभी अविश्वसनीय भले हो, किन्तु आज की ज्यामितिक परिवृद्धि वाली जनसंख्या के युग में यह अविश्सनीय नहीं है। महर्षि के संकेतित नाम पहले भले न मिलते हों किंतु आज की जनसंख्या-गणना में उनमें से अधिकाश नाम निकाल लिये जा सकते हैं। महाकवि दिनकर ने अपने युग का अतल अवगाहन किया है और उनका यह अप्सरा-वर्णन युग के महान् सत्य को उद्घाटित करता है।

हिन्दी काव्य में नखशिख-वर्णन

नायिकाओं का नखशिख निरूपण कवियों का बड़ा ही प्रिय विषय रहा है। संसार की शायद ही कोई समृद्ध भाषा हो जिसमें नायिका के पदनखों से अलकावलि तक का वर्णन न मिलता हो। संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि और व्यास ने भले ही इस ओर ध्यान न दिया हो, किन्तु कालिदास के कुमारसंभव में पार्वती तथा नैषधीयचरित के द्वितीय सर्ग में दमयन्ती के नख शिख का सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं, शतक-काव्यों में तो भगवती दुर्गा जैसी अरिमर्दिनी, त्रिपुरनाशनी, रक्तपिपासिनी का भी आपादमस्तक सौन्दर्य विवेचित कर भक्तों ने अपनी अद्‌भुत रुचि का परिचय दिया है।

उर्दू के मीर, मसहफी, दाग, गालिब जैसे बड़े-बड़े शायरों ने सरापाय महबूब की चर्चा बड़ी बारीकी से की है। आँखें, अब्रू, जिस्म, जयीं, बाल, कमर तथा लबोदेहन की बात कौन कहे, उनलोगों ने रुखसार पर के छोटे खाल (तिल) को भी नजर अन्दाज नहीं किया है। महबूब के सामानआराइश, शोखी तथा अदाओनाज पर न मालूम कितने पन्ने रँगे गये हैं।

अँग्रेजी में स्पेन्सर, कीट्स जैसे विख्यात कवियों ने अपनी नायिका के अंगों का बड़े मनोयोगपूर्वक वर्णन किया है। स्पेन्सर की 'इपीथेलमियन' नामक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखें—

Her goodly eyes lyke saphyres shining bright,
Her forehead youry white,
Her cheeks lyke apples which the sun hath rudded,
Her brest lyke to a bowle of cream vncrudded,
Her paps lyke lyllies budded,
Her snowie necke lyke to a marble towre,
And all her body lyke a pallace fayre

Ascending vppe with many a stately stayre,
To owners seat and chastities sweet bowre.

हिन्दी काव्य पर विचार करते ही हमारा ध्यान सर्वप्रथम इसके आदिकाल की ओर आकृष्ट हो जाता है। हिन्दी के प्रथम महाकवि चन्दवरदायी ने पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज से विवाहित होनेवाली राजकुमारियों के सर्वाङ्गों का सौंदर्य वर्णित किया है। ऐसे स्थल बारह हैं, जहाँ स्नान-वर्णन, केशप्रक्षालन, अंगराग-लेपन, वेणीग्रन्थन, मुक्ता-ग्रथन तथा आभूषण-धारण के साथ-साथ नख-शिख-वर्णन हुआ है। सबसे विस्तृत वर्णन कन्नौज-सुकुमारी संयोगिता के नख-शिख का है।

विद्यापति ने अनेकानेक पदों में नायिका का नख-शिख वर्णित किया है। उसके मुख की उपमा चाँद या कमल से, केशगुच्छ की भ्रमरावलि या रेशमी पाश से, लोचन की भृङ्ग, हरिण से, काजल रेखा की कामधेनु से, कटाक्ष की काम-बाण से, सिंदूर के टीका की सूर्य से, नासिका की सुग्गे से, दाँत की गजमुक्ताओं से, अधर की माधुरी फूल या बिम्बाफल से, कंठ की कंज से, देह की कनकलता से, स्तन की कमल, बेर, बड़े नींबू, श्रीफल, कनक शंभु तथा उत्तुङ्ग सुवर्णगिरि से, नाभि-केश की सर्पिणी से, कटि की केहरि से, जघनों की कदली-खंभ से, युगल-चरणों की कमल से, शरीर-कांति की स्वर्ण से तथा मधुर बोल की कोयल कूक से दी गयी है।

विद्यापति का नख-शिख वर्णन बड़ा ही उद्दीपक है तथा कहीं-कहीं सीमा का अतिक्रमण कर गया है। दुबली-पतली लता-सी सुकुमारी के स्तन को जब विशाल कनकगिरि बना दिया जाता है तो नायिका की नेत्रानुरंजक मूर्ति के बजाय डरावनी सूरत नाचने लगती है, स्तनों को शम्भु बना देने पर शम्भु के प्रति हमारी मर्यादित तपःपूत भावनाओं को ठेस भी पहुँचती है। साथ ही साथ उरोजों को शम्भु जैसे देवाधिदेव से उपमित कर चंचल किशोरों के मन-प्राणों में उस नायिका की पवित्र रूप रेखा खींचना तथा उसकी ओर पूर्णतः आकृष्ट करना, पता नहीं नीति शास्त्रीय निकष पर कितना खरा उतरेगा?

जायसी ने पद्मावत के दसवें 'नख-शिख-खंड' तथा एकतालीसवें 'पद्मावती-रूप-चर्चा खंड' में पद्मावती के केश से लेकर पाँवों के अनवट और बिछिया तक का बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया है। पद्मावती के केश कस्तूरी की तरह काले हैं। वह मालती-लता की तरह है और सिर के बाल मानो भौंरे हैं। विषधर सर्पों की तरह उसके केश बलखाते हैं। जब वह वेणी खोलकर बालों को झाड़ती है तो आकाश से पाताल तक अँधेरा छा जाता है। शरीर-रूपी मलयागिरि की सुगन्ध ने उसके केशरूपी साँपों को

बेध रखा है। यह घुँघराली लटों से सबको विमर्दित करना चाहती है अथवा वे कचगुच्छ प्रेम की शृंखलाएँ हैं जो किसी की ग्रीवा में पड़ना चाहते हैं। इस प्रकार जायसी ने पद्मावती की अलक, माँग, सिंदूर, ललाट, भौंह, नासिका, अधर, दशन, कपोल, रसना, कान, ग्रीवा, स्तन, भुजाएँ, पेट, नितम्ब, जाँघ तथा चरणों के लिए उपमाओं उत्प्रेक्षाओं की झड़ी-सी लगा दी है। यद्यपि नख शिख वर्णन सौंदर्य का बाह्य पक्ष ही उद्घाटित करता है, फिर भी जायसी के वर्णन में रहस्यात्मक संकेत तथा सौंदर्य की भव्यता का निदर्शन पर्याप्तरूपेण हुआ है।

लोकरुचि का आग्रह इतना बलिष्ठ हुआ करता है कि अन्तरात्मा की अतल गहराइयों में प्रेमी-मन की खोज करनेवाले रसिक शिरोमणि महाकवि सूरदास भी इस परम्परा का मोह छोड़ नहीं पाये। कहीं यमक, कहीं श्लेष तथा कहीं रूपकातिशयोक्ति का सहारा लेकर उन्होंने भी नख-शिख वर्णन किया है—

सारङ्ग सारङ्ग धरहि मिलावहु
विराजत अङ्ग अङ्ग इति यात
अपने कर करि धरे विधाता
पट खग नव जलजात

या "अद्भुत एक अनुपम बाग" जैसे पद उदाहृत किये जा सकते हैं। उपमा-कोष समक्ष रखकर ही कोई पाठक ऐसी बुझौवलों का अर्थ समझ सकता है।

नख-शिख-वर्णन की जो एक वेणी धारा अत्यन्त प्राचीन काल से चली थी वह हिन्दी के रीतिकाल में अनन्त विस्तार पा जाती है। ये वर्णन विलक्षणता प्रदर्शन की पराकाष्ठा को स्पर्शित कर गये हैं।

'अलङ्कार शेखर' और 'कवि कल्पलता' में प्रतियोग्य की लम्बी सूची दी गयी है जिसका बहुत अधिक अशाल्योचित प्रयोग हुआ है। नायिका भेद के प्रसंग में रससिक्त मुक्तक भले ही मिलते हों किन्तु नख शिख सम्बन्धी उक्तियाँ अपनी निरर्थक आवृत्ति से मन मोहने के बजाय विरसता तथा खीझ उत्पन्न करती हैं। इन 'अंगदर्पणों' में वह सफाई नहीं जो अपेक्षित है। मृग, मीन, खञ्जन, कमल, मरु, सुमेरु, कामधेनु, कल्प-वृक्ष आदि आदि उच्चारण से भी अब पाठकों पर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। इन वर्णनों में कहीं नायिका का सर्वाङ्ग अजायबघर, कहीं शिव की बारात-सा तथा कहीं जौहरी की दूकान सा हो गया है। प्रवाल की तरह पाँव, मुक्ताओं की तरह नखदत, नीलम की तरह कच, माणिक्य की तरह होंठ, पन्ना के भूषण, पुखराज-सी अंगप्रभा तथा हीरक-सी मुस्कान वाली नायिका कुबेर के गृह का मनोरंजन भले हो सकती है, अकिंचन अनाढ्य प्रेमियों के लिए उसकी कल्पना असम्भव है।

आधुनिक काल में, खासकर छायावाद में नख शिख वर्णन नहीं हुआ है, ऐसी बात नहीं। हाँ अन्तर इतना ही है कि जहाँ प्रारम्भिक कवियों का ध्यान स्थूल उपमानों की ओर है, इनका ध्यान सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपमानों की ओर चला गया है। उनकी नायिका कवि के स्वप्न के समान सुन्दर, विश्व के विस्मय के समान मधुर, संगीत की तरह रुचिर, प्रकृति की एक पंक्ति के समान ललित, सत्य के समान धवल, शिशु के हास्य की तरह निर्मल, विनय के समान शीलवती है तथा उस नायिका के क्रोध की तरह काले केश, विरह पीड़ा की तरह उन्मादक नत्र, प्रेम के समान मीठे अधर, सुधाबिन्दु की तरह शुभ्र दाँत, लघु लघु लहरियों के कंपन की तरह गतिशील चरण वर्णित हुए हैं।

प्रगतिवाद में यथार्थ के प्रति अनावश्यक चिपकाव के कारण नारी मूर्ति कहीं-कहीं विगर्हित एवं जुगुप्सित बन गयी है। जहाँ फूटे बर्तन-सी तिरस्कृता मानवता है, वहाँ नारियों के नत्र दो लालटेन से दीन नहीं होंगे तो और क्या? कभी उनकी उभरती छातियों को कच्ची नाशपातियों की तरह तथा कभी वैसाख की जुआई ककड़ियों की तरह वर्णित किया गया है।

प्रयोगवादी कवि अपनी नायिका को टटकी नहाई कुँई या चम्पा की डाली नहीं कहता। इसका मतलब यह नहीं कि उसका हृदय उथला है या प्यार मैला है वरन् इन उपमानों के देवता कब के कूच कर गये हैं। बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है। अतः अज्ञेय ने अपनी नायिका को ललती कलगी बाजरे की कहा है।

पिष्टपेषित पर्युषित अप्रस्तुतों के आम्रेडन से पलायन की ही बात नहीं वरन् नए प्रकार की नायिका का नख-शिख वर्णन इनका अभिप्रेत है। उदाहरण स्वरूप मदन वात्स्यायन की नयी परकीया' देखें। यह परकीया वृषभानुकुमारी बरसाने की राधा नहीं वरन् कारखाने के कमकर कन्ट्रोलर की सेक्रेटरी है। यह गौरांग चन्द्रानना नहीं है वरन् यह काले मगमरमर की काढ़ी गयी सी कोयल सी रानी है। विद्यापति की नायिका ने जब अपना मुँह धोकर धोवन फेंका तो वह पूर्णिमा की चाँदनी बनकर अग जग में छा गया, किन्तु इस 'केटकनी' नाम्नी नायिका का रंग बिलकुल काला है। यह पिकवयनी नहीं, वरन् पिकवर्णा है। इसका गोल मुख बैंगन जैसा चिकना, चमकता, काला तथा सर्वत्र एक सा है। उसका मुँह बड़ा छोटा है, वह अकेली बात सा, दोहे सा, श्लोक-सा, सवैया सा, शेर सा कोटेशन सा एपीग्रैम सा, सूत्र सा, फारमूला सा तथा नौकरशाहों के हृदय में आसानी से अँटनेवाला है। इतना ही नहीं बल्कि उसका मुँह अमावट-सा, अस्पष्ट मन्त्र सा तथा विस्मयकारी कहावत सा है। उसके होंठ जामुन जैसे, कंठस्वर गुलाबजामुन ऐसा, आँखों की पुतलियाँ मिर्च की तरह तथा दाँत दान जैसे हैं, गोया कोयले के अन्दर में अमोनियम सल्फेट हो। उसके दो कान नील कमल

की कोंठी या अपराजिता के फूल जैसे हैं। उसकी केश-सज्जा छतनार लक्का कबूतर की पूँछ-सी है। जाड़े में स्विमिंग पूल के किनारे टखनों भर पानी में खड़ी ऐसी लगती है जैसे ठण्डे फ्रूट सलाद की कटोरी में काले अंगूर। उसके पाँवों की लीला से पानी आन्दोलित होता है। साँप-सी लहराती उसकी छाया है। चुलबुली मछलियों के झुण्ड-सी जितनी देर तक वह तैरती है, लगता है कि उसके पैर की उँगलियों से हाथ की उँगलियाँ तक तरंगित रहती हैं। तत्पश्चात् वह तितली-सा नील ड्रेस तथा कौड़ियों-सा आभूषण पहनती है। जब बोलती है तो मालूम होता है कि रोशनाई ज्यादा बहकर फैलने लग गयी है। मुँह पर पाउडर तथा होठों पर लिपिस्टिक लगाने का वर्णन देखें—

आँटे की गोली पर चौरठ सा,
कैरम के तख्ते पर पाउडर सा,
मुँह पर भभूत मला।
किसलय पर कागज सा,
कुसुम - दल पर साटिन-सा,
ओठों पर साट लिया
लाल - लाल लिपिस्टिक,
धुँआते कोयले - सा,
रत्ती भर आग से
सिगरेट-धूम।

और तब मोटरकार पर चढ़कर चली गयी मानो इलायची की तेज गन्ध सड़क को चीरती गयी हो।

इस तरह आज का कवि वामाओं के एक एक अङ्ग, एक एक भंगिमा तथा उसकी एक-एक चेष्टा पर उनके अनाघ्रात उपमानों का अम्बार लगाता चलता है। मद्रूक्प्लुति से जो कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं उनसे सहज अनुमेय है कि अत्यधिक चर्वित होने के कारण विषय चाहे जितना भी निंदित हुआ है, किन्तु इसकी अयत्नकालीय शाश्वतता निःसंदिग्ध है।

हिंदी कृष्णकाव्य में राधा

हिन्दी साहित्य के इतिहास में राधा का पदक्षेप एक विलक्षण घटना है जिसके चित्ताकर्षक प्रेमप्रवण व्यक्तित्व ने सम्पूर्ण काव्य को सान्द्र-सरस बना दिया है। परन्तु इस पीयूष-धारा के उद्गम-स्थल के बारे में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। एक विद्वान् ने अनुमान किया कि राधा एशिया से चलकर आये हुये आभीरों की प्रेमदेवी है तथा एक की धारणा है कि राधा किसी अज्ञात भाग्यशाली कवि की ऐसी मधुर कल्पना है जो कवि को लोप करके स्वयं अमर हो गयी है।

वेदों में कृष्ण का उल्लेख मिलता है, परन्तु वहाँ वे एक स्तोता ऋषि हैं। महाभारत में वे सम्पूर्ण कथानक के सूत्रधार के रूप में चित्रित हुये हैं। किन्तु, इन दोनों ग्रंथों में राधा का किसी प्रकार भी उल्लेख नहीं हुआ है। भागवत पुराण में 'राधसा' शब्द आया है, किंतु साहित्य में राधा का सर्वप्रथम उल्लेख हाल की गाथा-सप्तशती (७ वीं ८ वीं शताब्दी) में मिलता है। इसके बाद पंचतंत्र में भी राधा का नाम पाया जाता है। पहले श्रीकृष्ण के लीला-विषयक पदों में गोपियाँ ही थीं, राधा न थीं। पीछे गोपियों के सारस्वरूप राधा की कल्पना हुई। अगर ये गोपियाँ प्रकृति के व्यष्टि-भाव हैं, तो राधा समष्टि-भाव।

भागवत के बाद ब्रह्मवैवर्त्त पुराण (१० वीं शती) ही वह धार्मिक ग्रंथ है, जिसमें राधा का सर्वप्रथम विशद रूप में वर्णन मिलता है। इसमें पहली बार राधा श्रीकृष्ण की पत्नी के रूप में आयी है (स्वयं राधा पत्नी कृष्णवक्षस्थलस्थिता)। कोई आवश्यक नहीं कि यह पुराण जयदेव के पहले का हो, परन्तु उनके पहले भी कृति ध्वन्यालोक में राधा-संबंधी एक श्लोक मिलता है। सृष्टि के आदि से ही प्रकृति और पुरुष की लीला चल रही है। वैष्णवगण कहते हैं कि वृंदावन की लीला के लिए भगवान् ने प्रकृति के प्रतीकस्वरूप एक पृथक् विग्रह उत्पन्न किया है और स्वयं भी आकार ग्रहण किया है (गीता, ४, ६)।

ईश्वर के विषय में पुनः कहा गया—'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द-विग्रहः'। आनन्द स्वरूप के विकार से जिस शक्ति का विकास होता है उसका नाम है 'ह्लादिनी' या राधा। पुरुष का रूपान्तर है प्रकृति। अतः राधाकृष्ण अभिन्न

है। राधा-कृष्ण का विहार ही आदर्श शृंगार-रस का विलास है। उनकी आराधना सकल कामनादायिनी एवं परम धाम प्राप्त करानेवाली है। यही भाव हम निम्बार्क के 'दस श्लोकी' नामक स्तोत्र में पाते हैं। 'राधिकोपनिषद्' में राधा और कृष्ण एक दूसरे की सेवा करते हैं। यहाँ राधा भगवान हरि की सर्वेश्वरी तथा प्राणों की अधिष्ठात्री देवी है जो निम्बार्क की साम्प्रदायिक धारणा के अनुकूल है। निम्बार्क की ही परम्परा में जयदेव हुये, जिन्होंने गीतगोविंद की रचना की। राधा की उपासना के संबंध में *फर्कुहर का अनुमान है कि राधा की उपासना भागवत पुराण के* आधार पर वृंदावन में सन् ११०० के लगभग प्रारंभ हो गयी और वहीं से बंगाल तथा अन्य स्थानों में इसका प्रचार हुआ होगा।

सम्भव है, बंगीय भक्तों को विशिष्टाद्वैत पसंद न आया हो और इसलिए रैंजमत के शिवशक्तिवाद से समन्वित राधाकृष्ण की ही मूर्ति अच्छी लगी हो। विष्णु-स्वामी और *निम्बार्क सम्प्रदाय* के बाद *चैतन्य और वल्लभ संप्रदायों* में राधा को विशिष्ट स्थान मिला। विष्णुस्वामी से प्रभावित होकर वल्लभाचार्य ने राधा की उपासना की, जिनकी लीक पर चलने वाले *महाकवि सूरदास* हुये। *निम्बार्क की* परंपरा में जयदेव ने गीतगोविंद में राधा का चरित्रांकन किया, जिससे प्रेरणा ग्रहण कर विद्यापति राधा संबंधी *शृंगारिक पदों की रचना कर 'अभिनव जयदेव'* की उपाधि पा सके।

जयदेव की राधा पूर्णयौवना है। वह मदनमथिता निभृत निकुंज में जाकर *मोहन द्वारा अपने जघनदुकूल का शिथिलीकरण चाहती है। वह कामज्वरपीड़िता* कभी रोमांचित होती है, कभी सीत्कार छोड़ती है, कभी विलाप करती है और कभी *विमूर्च्छित होती है। उशीर, रस, चंदन, कमलपत्र का लेप लगाने से भी उसकी मन्मथ-*पीड़ा कम नहीं होती। उसकी चतुर सखी यही सलाह देती है।

> मुखरमधीरं त्यज मंजीरं रिपुमिव केलिसुलोलम्
> चल सखि कुंजं सतिमिरपुंजं शीलय नीलनिचोलम्
> विगलितवसनं परिहृतरशनं घटय जघनमपिधानम्
> किसलयशयने पंकजनयने निधिमिव हर्षनिधानम्।

जब राधा माधव के पास जाती है तो वह वैतवोक्तियों से परास्त करने लगती है। रजनिजनित गुरुजागरण से आपके नेत्र लाल-लाल दीखते हैं, कज्जलकलित विलोचन के चुम्बन से आपके अरुण दशनवसन कृष्ण हो गये हैं, स्मरसङ्गर की खर नखक्षत-रेखायें आपके शरीर पर खिंचकर मरकतखंड पर सुवर्णाक्षरलिखित रतिजय

लेखा बन गयी है। चरणकमल से निकल अलक्तक आपके उदार हृदय पर फैल गये हैं। आप बाहर से काले नहीं, भीतर से भी काले हैं।

बहिरिव मलिनतरं तव कृष्ण मनोऽपि भविष्यति नूनम्

कथमथ वञ्चयसे जनमनुगतमसमशरज्वरदूनम्।

बेचारे कृष्ण तरह तरह से समझाते हैं कि जिसने एक बार तुम्हारे अधरामृत का पान किया, वह भला पररमणी से स्नेह स्थापना किस प्रकार करेगा? जो कठोर-स्तना और सघनजघना एक बार मेरे हृदय में व्याप्त हो गयी, अब उस हृदय में दूसरे के पैठने के लिए जगह ही नहीं है। एक निर्दय कामदेव ही प्रवेश कर गया है। हे राधे! मुझे अपने आलिंगन का पात्र बनाइये। मुझ जैसे अपराधी के लिए यही दंड है, आप मुझे अपने निर्दय दन्तदंश एवं भुजवल्ली बंधन दें। कृष्ण के इन अनुनय विनय, चाटूक्ति प्रेमोक्ति को सुनकर राधा का मानभरा पत्थर हृदय पसीज जाता है और कहती है—

रचय कुचयो पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयो

र्घटय जघने काञ्चीमञ्च स्रजा कवरीभरम्।

कलय वलयश्रेणीं पाणौ पदे कुरु नूपुरा-

विति निगदित प्रीत पीताम्बरोऽपि तथाकरोत्॥

इस तरह राधानिगदित वचन का पालन प्रीत पीताम्बर ने किया। इस काव्य में ऐसी मिठास है कि सचमुच माध्वीक, शर्करा, द्राक्षा, माकन्द सब फीके हैं। राधा और कृष्ण की मिलन लीलाओं में ऐसी उत्तेजना है कि सामान्य जन की कामवासनाओं का सहसा उद्दीप्त हो जाना अस्वाभाविक नहीं।

विद्यापति की राधा पूर्णप्रगल्भा नहीं लेकिन कमनीय किशोरी है। शैशव और यौवन की सन्धिरेखा पर खड़ी राधा अपार सौन्दर्य की निधि है। चन्द्र-सार से उसका मुख बना और उस बाला ने अंचल से मुखचन्द्र को पोंछकर जो अमृत धो बहाया, वही चाँदनी बन दशों दिशाओं में फैल गया। जहाँ जहाँ वह पग धरती है, वहाँ वहाँ सरोरुहों की वृष्टि होती है, जहाँ जहाँ उसका अंग झलकता है, वहाँ वहाँ बिजली छिटक जाती है। वह श्रीकृष्ण के प्रेम में पूरी तरह पगी है। वह यह भली-भाँति जानती है कि गया यौवन पुनः पलट कर नहीं आता, केवल पछतावा रह जाता है। इसलिए वह कृष्ण के साथ क्रीड़ा करने को उत्कंठित है।

यह उनके साथ मान करती है, नोंकझोंक करती है तथा अभिसार भी करती है। संयोग के समय किसी प्रकार का पर्दा कवि ने रहने नहीं दिया है—

जखन लेल हरि कँचुअ अछोडि
कत पर जुगति कएल अँग मोरि
× × ×
निवि-बंधन हरि किए कर दूर
एहो पए तोहर मनोरथ पूर
× × ×
सुरत समापि सुतल वर नागर
पानि पयोधर चापी

यही राधा वियोग के समय धरती पर लोटती है, गर्म-गर्म उच्छ्वास छोड़ती है, रोती-कलपती है। जब निष्ठुर प्रियतम उसे छोड़कर मधुपुर चला गया तो उसका जीना दुश्वार हो गया है। शीतलतादायक चंदन विषम शर बन गया है। भूषण भारवत् हो रहा है क्योंकि सपने में भी हरि नहीं आ रहा है। अकेली जब वह मुरारि का पथ हेरती कदम्ब तले खड़ी थी तो हरि बिना उसका हृदय दग्ध हो गया, उसकी साड़ी झामर हो गयी। ऐ ऊधो, तुम जरा जल्द मधुपुर जाओ। चंद्रवदनी जी नहीं पायेगी तो तुम्हें ही वध लगेगा—

चानन भेल विषम सर रे
भूषन भेल भारी।
सपनेहुँ हरि नहि आयल रे
गोकुल गिरिधारी॥
एकसरि ठाढ़ि कदम-तर रे
पथ हेरथि मुरारी।
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे
झामर भेल सारी॥
जाह जाह तोंहे ऊधो हे
तोंहे मधुपुर जाहे।
चन्द्रवदनि नहि जीवति रे
बध लागत काहे॥

किंतु इन दो राधिकाओं से भिन्न चंडीदास की राधा है। उसका निर्माण कोमलता, आशंका और आँसुओं के तंतुओं से हुआ है। वह क्षणभर भी कृष्ण को अपनी आँखों की ओट में देखना नहीं चाहती। ऐसा नहीं कि वह मान नहीं करती। किंतु *नटनागर ज्योंही आँखों के सामने आ गया, उसका हृदय नवनीत की तरह* पिघल जाता है और सारा मान छूमंतर। जिस कानू का तन ही काला नहीं, मन भी काला है, उसी के आगे अपने को बिछा देती है, सर्वस्व समर्पण कर देती है। अद्भुत है राधा का यह प्रेम! न आजतक किसी ने देखा, न सुना!

एमन पीरिति कभू देखि नाइ शुनि,
पराने पराने बाँधा आपनि आपनि।
दुहुँ कोडे दुहुँ कांदे विच्छेद भाविया,
तिल आध ना देखिले जाय जे मरिया॥

भक्तिकाल में राधा हमारे समक्ष एक नवीन परिधान में उपस्थित होती है। सूर ने तुलसी की सीता की तरह ही राधा को ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। श्रीकृष्ण और राधा ब्रह्म के ही रूपांतर हैं। सूर की भक्ति राधा के माध्यम से ही व्यक्त हुई है किंतु इस दार्शनिक भावना के कारण इसका काव्यात्मक रूप गौण नहीं हो पाया।

सूर के राधा-कृष्ण अतिमानव होते हुए भी पूर्ण मानव हैं। वे बालक की तरह क्रीड़ा करते हैं, युवक की तरह प्रेम करते हैं और प्रौढ़ की तरह कर्त्तव्य निष्ठा दिखलाते हैं। राधा और कृष्ण के प्रथम परिचय का सख्य ही प्रणय में परिणत हो जाता है। जयदेव, विद्यापति और चंडीदास की राधाओं से ईषत् भिन्न सूरदास की राधा है। वह प्रगल्भता, विलासिता और आशंका की प्रतिमूर्ति नहीं वरन् अचल आस्था की प्रतिमा है। मिलन की घड़ियों में वह सर्वतोभावेन कृष्णमयी है। उसके हृदय-पन्त्र को किसी तरह की शंका कँपाती नहीं, वह पूर्णरूपेण आश्वस्त है कि कानू उसका है, केवल उसका। यह बात जग जाहिर है। इसमें छिपाव कैसा? दुराव कैसा? रासलीला में जो वह अपने उन्मुक्त हास्य से दिशाओं को गुंजित करती थी, वही वियोग में प्राय मौन हो जाती है। भला गद्‌गद् कंठ और भरी हिया से क्या कुछ कहना संभव है? सचमुच उसे देखकर तो—

"अपि ग्रावा रोदत्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।"

भक्तिकाल में सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों ने राधाप्रेम की विवृति सहस्रों पदों में की है किंतु सूर की प्रतिभा के सामने उनकी चमक बहुत आकृष्ट नहीं करती।

हिंदी क रीतिकाल में राधा के इस अयस्कान्तीय लोकपावन चरित्र में बहुत ह्रास हुआ। सामान्य नायक-नायिकाओं के प्रेम को कृष्ण राधा के नाम से व्यक्त करने की परिपाटी चल निकली, राधा-गोविंद सुमिरन का बहाना भर रहा।[1]

वे पूरे रसलोलुप, लम्पट की तरह चित्रित हुये। पद्माकर की ये पंक्तियाँ देखें—

> फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविंदे लै गई भीतर गोरी
> भाई करी मन की पद्माकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी
> छीनि पितंबर कम्मर ते सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी
> नैन नचाय कही मुसुकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी।

रीतिकाल की दो शताब्दियों में केवल दो ओर से भिन्न स्वर सुनाई पड़ते हैं। एक हैं विरही सुजान के आँगन में अँसुवा बरसानेवाले, प्रेम की पीर में शराबोर निम्बार्क-सम्प्रदाय में दीक्षित घनानंद और दूसरे राधावल्लभ-सम्प्रदाय के प्रेमी भक्त रसिकदास, चाचा वृन्दावनदास जैसे कविगण।

आधुनिक युग में भारतेन्दु की राधा-भावना सूर के काव्य पर ही आधारित है। उन्होंने राधा के अवतरण का कारण इस प्रकार बताया है—

> जो पै राधा रूप न धरती
> प्रेम पंथ जग प्रगट न होतो, ब्रजवनिता कहा करती।

रत्नाकर का 'उद्धवशतक' यद्यपि आधुनिक युग की रचना है फिर भी इसका वातावरण मध्यकालीन ही है। रत्नाकार ने कथानक में थोड़ा परिवर्तन किया है। कृष्ण उद्धव के साथ यमुना में स्नान करने जाते हैं और एक मुरझाये कमल सूँघने के बाद ही राधा की याद आ जाती है और वे बेहोश हो जाते हैं। इसके अनन्तर एक पंजरस्थ शुक द्वारा उच्चारित 'राधा राधा' की रट तो उनकी व्यथा और भी बहुगुणित कर देती है। वे उद्धव को शीघ्र ही गोकुल भेजते हैं। वे योग और वैराग्य की शिक्षा देने गये थे किन्तु जब वे ब्रज से लौटे तो उनका विराग लुकुटी में रुचिर प्रेम रस था तथा ज्ञान-गूदड़ी में अनुराग का रतन था। यह है प्रेम की अपूर्व विजय जो उद्धव जैसे कट्टर ज्ञानी को मोम-सा बना देती है—

> प्रेम-मद छाके पग परत कहाँ के कहाँ,
> थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।

---

१ विशेष जानकारी के लिए डॉ० गोपाल राय का 'हिन्दी साहित्य परिशीलन तथा अनुशीलन' में संकलित 'रीतिकाव्य में राधाकृष्ण' निबंध देखें।

कहै 'रतनाकर' यों आवत चकात ऊधो,
मानो सुधियात कोऊ भावना भुलाई है
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सों
सारत बहोलिनि जो आँसु अधिकाई है,
एक कर राजै नवनीत जसुदा को दियौ,
एक कर बंसी वर राधिका पठाई है।

प्राचीन भाषा की दो और महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं—द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' तथा सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमरदूत'। मिश्रजी की राधा का रूप परंपरागत है किन्तु कविरत्न की राधा में आधुनिकता का स्पर्श होने लगा है। पहली पुस्तक की भाषा अवधी तो दूसरी पुस्तक की ब्रज। कृष्ण-जीवन से संबद्ध अवतरण, मथुरा, द्वारका, पूजा, गीता, जय तथा आरोहण-सात कांडों में बेचारी राधा खो सी गयी है। आधुनिक हिन्दी अर्थात् खड़ी बोली भी राधा को भूल नहीं पायी है। यों तो राधाचरित्र पर अनेकानेक रचनायें आयी हैं किंतु तीन का उल्लेख आवश्यक है। मैथिलीशरण गुप्त का 'द्वापर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का 'प्रियप्रवास' तथा धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया'।

गुप्तजी ने श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, विधृता, बलराम, ग्वालबाल, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर, नंद, कुब्जा, उद्धव, गोपी जैसे उपशीर्षकों में द्वापर की कथा कही है। इस विभाजन से स्पष्ट है कि राधा को बहुत अधिक स्थान नहीं मिल पाया है। राधाकृष्ण में आत्मविलयन करनेवाली वही परंपरित प्रेम पुजारिन है—

सब सह लूँगी—रो रोकर मैं
देना मुझे न बोध हरे!
इतनी ही विनती है मेरी,
इतना ही अनुरोध हरे!
क्या मानापमान करती हूँ,
कर न बैठना क्रोध हरे!
भूले तेरा ध्यान राधिका
तो लेना तू शोध हरे!

प्रियप्रवास की राधा भक्तों एवं पौराणिकों की राधा नहीं, वह भारतीय सभ्यता, संस्कृति और आधुनिक भारत का समर्पित आदर्श है। यह राधा परब्रह्ममयी, ब्रह्म की आद्याशक्ति नहीं, वरन् राष्ट्रीय चेतना एवं नवजागरण की सूत्रधारिणी है। वह सकल शास्त्रनिष्णात विदुषी है। श्रीकृष्ण जन्मभूमि की हितैषणा से मथुरा गये हैं अतः

उनके वियोग में दग्ध होना कैसा ! प्रियतम के वियोग ने उसे विश्वप्रेम का अमूल्य वरदान दिया है :—

> हो जाने से हृदयतल का भाव ऐसा निराला।
> मैंने न्यारे परम गरिमावान् दो लाभ पाये
> मेरे जी में हृदय विजयी विश्व का प्रेम जागा
> मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश में ही।

श्रवण, कीर्त्तन, वन्दन, दासता, स्मरण, आत्मनिवेदन, अर्चना, सख्य तथा पदसेवना नवधा भक्ति हैं किन्तु राधा इसके परंपरित-प्रचलित रूप से भिन्न नयी व्याख्या प्रस्तुत करती है। आर्त्त-उत्पीड़ितों, रोगी, व्यथितजन की पीड़ा तथा लोकोन्नायक सच्छास्त्रों की वाणी सुनना ही श्रवण-भक्ति है। कंगालों, विवश विधवाओं, अनाश्रितों तथा उद्विग्नों की सुरति करना और त्राण देना स्मरण-भक्ति है। विपद्-सिन्धु में पड़े नर-वृन्द के दुःख-निवारण और हित के लिए अपने तन-प्राण का अर्पण आत्मनिवेदन-भक्ति है। संत्रस्तों को शरण देना, संतापितों को शांति, निर्बोधों को सुमति देना, पीड़ितों को औषध देना, तृषितों को पानी देना, तथा भूखे नरों को अन्न देना ही अर्चना-भक्ति है। इस तरह हरिऔध की राधा हरघड़ी इसी चिंता में डूबी रहती है कि वह किस प्रकार विश्व के काम आ सके। जब पुत्र-वियोग से विपन्न बनी यशोदा मूर्च्छित हो उठती थी तो उस समय वह तरह-तरह से सान्त्वना प्रदान करती थी :—

> घंटा ले के हरिजननि को गोद में बैठती थी,
> वे थीं नाना यतन करती पा उन्हें शोकमग्ना
> धीरे-धीरे चरण सहला औ मिटा चित्तपीड़ा
> हाथों से थीं युगल दृग के वारि को पोंछ देती।
> हो उद्विग्ना परम जब यों पूछती थीं यशोदा,
> क्या आवेंगे न अब ब्रज में जीवनाधार मेरे,
> तो वे धीरे मधुर स्वर ही विनीता बतातीं
> हाँ आवेंगे, व्यथित ब्रज को श्याम कैसे तजेंगे।

भारती ने 'कनुप्रिया' में राधा को बिलकुल नये संदर्भ में उपस्थित किया है। राधा आज उसी अशोक वृक्ष के नीचे—जहाँ उसका प्यार परवान चढ़ा था, उन्हीं मंजरियों से अपनी क्वाँरी माँग भरे खड़ी है। जब महाभारत की अवसानवेला में अपनी अठारह अक्षौहिणी सेना के विनाश के बाद निरीह, आकुल, विषण्ण कृष्ण किसी विस्मृत आँचल की छाया में लौटेंगे तो उन्हें यह अपने वक्ष में शिशु-सा समेट लेगी। इस राधा का भी कनु ही सब कुछ है—रक्षक, बंधु, अंतरंग सखा।

आज के प्रगाढ़ अंधकार में उसके चंदन-स्राव के बिना उसकी देह-लता के बड़े-बड़े गुलाब धीरे-धीरे टीस रहे हैं। क्या वह कान्ह भूल जा सकता है कि यह वही बावली लड़की है—

जो पानी भरने जाती है
तो भरे हुए घड़े में
अपनी चंचल आँखों की छाया देखकर
उन्हें कुलेल करती चटुल मछलियाँ समझकर
बार-बार सारा पानी ढलका देती है।

क्या वह कभी भूल सकता है अपनी उस बावली को जिसे वह कदम्ब के नीचे बैठकर पोई की जंगली लतरों के पके फलों को तोड़कर, मसलकर, उनकी लाली से उसके पाँवों को अपने वक्ष पर महावर लगाने के लिए रख लिया करता था। वह बेचारी लाज के मारे धनुष की तरह पूरी दुहरी हो जाती थी, पूरे बल से अपने पाँव समेटकर खींच लेती थी, दोनों बाँहों में अपने घुटने कस मुँहफेर निश्चल बैठ जाती थी, किन्तु वही जब शाम को घर लौटती थी तो निभृत एकांत में—दीपक के मंद आलोक में अपने उन्हीं चरणों को अपलक निहारती थी। मतवाली-सी जल्दी-जल्दी में अधबनी उन महावर की रेखाओं को चूम लेती थी। ऐसी राधा—जो अपने प्रिय को सदा-सर्वदा मोहित-तृप्त करती रही, वही बड़ी आस लगाये उस थके माँदे युद्ध-क्लान्त बटोही की प्रतीक्षा में पलकें बिछाये बैठी है—

सुनो कनु सुनो
क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिए
लीलाभूमि और युद्धक्षेत्र के
उल्लंघ्य अंतराल में।

किन्तु क्या वह बटोही लौट सका? युद्ध-जर्जर सभ्यता की प्रेयसी अपने प्रियतम के आगमन की, पता नहीं, कब तक बाट जोहती रहेगी?

वस्तुतः राधा के चरित्र में ही कुछ ऐसा अजीब आकर्षण है कि वह युग-युग से साहित्यिकों को अपनी ओर खींचता रहा है और रहेगा।

राधिका न कोई नारी एक
भावना वह हृदयहारी एक।
हाड़ मज्जा की नहीं यह देह
राधिका का नाम निश्चल नेह।
स्वर्णवर्णा जो बनी घनश्याम
हाय राधा है उसी का नाम। —जानकीवल्लभ शास्त्री

५

आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ

आधुनिक हिन्दी कविता वीरगाथायुग, भक्तियुग, रीतियुग, भारतेन्दुयुग, द्विवेदीयुग तथा छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवादादि के मील-स्तंभों को पार करती हुई एक विशाल प्रदेश में आ उपस्थित हुयी है। यह ऐसी भूमि है जहाँ वर्जनाएँ और बंधन नहीं। विशेष प्रवृत्तियों के गढ़ ढह चुके हैं, वादों के शिखर ध्वस्त हो चुके हैं, कोरी कल्पनाओं के गजदन्तखचित नीलम-निलय भी धूलिसात् हो चुके हैं। आधुनिक हिन्दी कवि भाषागत, स्थानगत एवं कालगत अंतराल को स्वीकार नहीं करता। वह अपने मन के वातायन को अवरुद्ध नहीं करता। जितने विचार, जितनी मान्यताएँ, जितने वाद, जितने प्रवाह, जिस किसी भी दिशा से आएँ, वह सबका समुचित स्वागत करता है और बिना किसी पूर्वाग्रह या दुराग्रह के काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त हो जाता है। यही कारण है कि आज की हिन्दी कविता में सागर-सा असीम विस्तार एवं उसके वर्णों में इन्द्रधनुषी वैविध्य है।

यहाँ यह कहना कतई अप्रासंगिक नहीं होगा कि कुछ ऐसे छिद्रान्वेषी आलोचक हैं जो कहते हैं कि "आज की हिन्दी कविताओं में कुण्ठा, आत्मरति, क्षुद्रता, व्यक्तित्व शून्यता, अनास्था, हताशा, विवशता आदि के चित्रण के सिवा कुछ है ही नहीं। घिसे-पिटे विषयों पर एकरस कविताएँ लिखी जा रही हैं। इन कविताओं में पाश्चात्य भाषाओं की कविताओं के भूल-भरे भद्दे अनुवादों के अतिरिक्त और है ही क्या? इन कविताओं का शब्द-कोष बड़ा ही दरिद्र है। आज की नयी कविताएँ महज चार-पाँच सौ अनर्थक शब्दों में सिमटकर रह गई हैं। इतनी सीमित शब्दावली का प्रयोग करनेवाला काव्य जीवन के संघर्षों की कितनी गहरी अभिव्यक्ति दे सकता है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं। सारा साहित्य मध्यवर्गीय कुंठाग्रस्त थोड़े से बुद्धिजीवियों की वस्तु बनकर रह गया है।"—इन सारे आक्षेपों का उत्तर देने से कथा बड़ी लम्बी हो जाएगी और हम अपने मूल विषय से हट जायेंगे। किन्तु संक्षेपतः हम यहाँ इतना ही कहना अलम् समझते हैं कि ये कथन संकीर्ण दृष्टि के परिणाम हो सकते हैं। महात्मा गाँधी ने 'मदर इण्डिया' पर टिप्पणी करते हुए जो कुछ कहा था उसी की पुनरावृत्ति ऐसे आलोचकों के बारे में की जा सकती है।

आधुनिक कविता को सम्यक् रूप से समझने के लिए हमें सर्वप्रथम उसकी मूलभूत स्थूल प्रवृत्तियों का विवेचन करना होगा। ये स्थूल प्रवृत्तियाँ दो भागों में बाँटी जा सकती हैं—भावगत और शिल्पगत। इनमें से भावगत प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) विषय की व्यापकता, (२) नये मानव-मूल्यों की स्थापना, (३) घोर वैयक्तिकता, (४) व्यंग्यवादिता, (५) पौराणिक उपाख्यानों को नवीन भावबोध के साथ उपस्थित करना तथा (६) वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से प्रेरणा प्राप्ति। शिल्पगत प्रवृत्तियों के अन्तर्गत हम (१) मन्त्रवादिता, (२) छंदोहीन या छंदोयुक्त कविताओं में विभिन्न नवीन लयों की उद्भावना, (३) प्रतीकों की नव्य योजना, (४) बहुविध-बिम्ब विधान, (५) शब्दों का अर्थ-विस्तार, (६) सूक्ष्म अर्थ या अधिकाधिक अर्थद्योतन के लिए नव शब्द-निर्माण तथा (७) विरामचिह्नों से सामर्थ्य से अधिक काम लेना—इन सारी बातों को ले सकते हैं।

नये सौन्दर्य-बोध के साथ आधुनिक कविता का आधारफलक जितना विस्तृत हुआ है उतना पहले नहीं था। वृत्त की उदात्तता किसी को महाकवि बना दे, ऐसा इन कवियों का विश्वास नहीं। चित्रण की उदात्तता को ही ये आवश्यक मानते हैं। इसलिए यदि एक ओर बोधिवृक्ष, रामगिरि, लक्ष्यभेद जैसे विषयों पर कविताएँ लिखी जा रही हैं तो दूसरी ओर रेंगनेवाली छिपकिलियों, धोबियों के घरों में रेंकनेवाले गधों, काँव-काँव करनेवाले कौवों, टर्र-टर्र करनेवाले मेढ़कों तथा सौन्दर्य की जलती रेखाएँ खींच जानेवाली तितलियों पर भी। रॉकेट और ओमरग्गा, सिम्फनी और विहाग, कमल और कैक्टस, जुगनू और चाँद, कनेर और पारिजात—कोई भी विषय ऐसा नहीं रह गया है जो वर्तमान काव्य-धारा से असंपृक्त हो।

आधुनिक हिन्दी कविता की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति है विघटित मानव मूल्यों की पुनःस्थापना के लिए पूरी चेष्टा। आज के मानव में अक्षमता, रिक्तता एवं ह्रस्वता के सिवा और कुछ है ही नहीं, अतः इस क्लैब्य-विजड़ित मानव से किसी महान् कार्य की आशा नहीं की जा सकती—ऐसी भ्रान्त धारणाओं को आधुनिक कवि बड़ी संयत और समर्थ भाषा में नकारता है। नागार्जुन की ये पंक्तियाँ देखें—

नये गगन में नया सूर्य
जो चमक रहा है,
यह विशाल भूखण्ड
आज जो दमक रहा है
मेरी भी छाया है इसमें।

× ×

पकी सुनहली फसलों से जो
अब की यह खलिहान भर गया

मेरी रग-रग के शोणित की
बूँदें इसमें मुसकाती हैं।

तीव्र सामाजिक चेतना के साथ-साथ कुछ कवियों में अपने अन्तर्मन की परतों को उधेड़ने की भी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। आइसबर्ग का दशांश ही जल की सतह के ऊपर तैरता है, अवशिष्ट वृहत् अंश तो जलमग्न ही रहता है। ठीक इसी प्रकार हम अपने चेतन से अधिक अवचेतन मन से प्रचालित एवं नियंत्रित रहते हैं। अतः आधुनिक कवि अपने मन के अनजाने गर्तों की सैर करता है।

आधुनिक कविताओं में पौराणिक उपाख्यानों को नये परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करने का प्रयास किया जा रहा है। भूले-बिसरे एकलव्य, अभिमन्यु, बर्बरीक, अश्वत्थामा, अहल्या, शूर्पणखा, शबरी, प्रोमेथियस, स्फिंक्स, जर्केकनीस जैसे पौराणिक विषय नयी अर्थवत्ता एवं प्रेरणाओं के साथ उद्धार पा रहे हैं।

व्यंग्य की प्रवृत्ति मानव सभ्यता की भाँति पुरातन है। हिन्दी संसार ने व्यंग्य के आचार्य कबीर को देखा है, किन्तु कबीर के युग की यह सामान्य प्रवृत्ति नहीं थी। किन्तु आज के कवि का यह तेज औजार है जिसके द्वारा वह समाज के गलित रोगग्रस्त अंगों का ऑपरेशन करना चाहता है। भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीतफरोश', अज्ञेय की 'साँप' तथा मेरी 'जुगनू' जैसी कविताएँ उदाहरण स्वरूप देखी जा सकती हैं। इस वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के युग में विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत जैसे दार्शनिक मतवादों से प्रेरित होना सम्भव नहीं है। अतः आधुनिक कविता में वैज्ञानिक सापेक्षवाद, ध्वनि तथा प्रकाश-तरंगों एवं मनोवैज्ञानिक क्षेत्र के अनुषंग, मुक्त अनुषंग या चेतना प्रवाह जैसे उल्लेखों का आधिक्य स्वभावतः हो गया है।

नई कविता का प्रबल समर्थक होते हुए भी ऐसा मैं बेहिचक कह रहा हूँ कि नई कविता की कथ्यगत उपलब्धियों के अनुपात में शिल्पगत उपलब्धियाँ कहीं अधिक हैं। भारतीय मनीषा का सर्वप्रथम उद्रेक सूत्रबद्ध या मन्त्रबद्ध हुआ। सहस्राधिक वर्षों तक वैदिक ऋषियों के उद्‌गार महार्घ रत्नराजि की तरह चमकते रहे। आधुनिक कविताओं में यह मन्त्रवत् संक्षिप्तता पर्याप्त मात्रा में देखी जा सकती है। गहन से गहन भावों को, फैले हुए विचारों को, कम-से-कम शब्दों में ठूँसकर भर देने की विलक्षण कला आधुनिक हिन्दी कविता की महत् उपलब्धि है। अज्ञेय की दो मन्त्रधर्मी कविताएँ उद्धृत हैं :—

एक दिन
और दिनों-सा
आयु का एक बरस ले चला गया।
जन्म दिवस —'अरी ओ करुणा प्रभामय'

कब, कहाँ, यह नहीं।
जब भी जहाँ भी हो जाय मिलना।
केवल यह : कि जब भी मिलो
तब खिलना। —पुनर्दर्शनाय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये

नई कविता में छंद को दरकिनार कर, लय को महत्त्व दिया गया है। टी० एस० इलियट, हर्बर्ट रीड, हापकिन्स तथा जी० एच० लीविस जैसे अंग्रेज आलोचकों ने कविता की लय पर पूर्णरूपेण विचार किया है। कविता की सृष्टि छद से नहीं होती वरन् उस आवेगपूर्ण सहज विचार से होती है जिसमें स्वयं अपना आवयविक संघटन होता है। छद तो इस क्रिया का स्थूल परिणाम है, लय ही कला का आतरिक जीवन है।

आधुनिककाल में *ओस, कमल* जैसे छायावादी प्रतीक तथा *जोंक, मशाल* जैसे प्रगतिवादी प्रतीक नहीं मिलते। नये युग के भावों को स्पष्ट तथा व्यक्त करने के लिए बिलकुल नये प्रतीक गढे गये हैं। बावरा अहेरी, पागल कुत्ते, खाली जेबें, बासी कविताएँ, चूहों का मारना, गधों का रेंकना, टूटी कुर्सी आदि प्रतीकवत् अपनाए गये हैं।

प्रतीक ही नहीं वरन् आधुनिक कविताओं में एक से एक अस्पष्ट—अचुम्बित बिम्ब व्यवहृत हुए हैं। किसी प्रकार का बिम्ब खोजना हो—सम्पूर्ण बिम्ब, खडित बिम्ब, मिश्रित बिम्ब, सरल बिम्ब, जटिल बिम्ब, सूक्ष्म बिम्ब, प्रसृत बिम्ब, शिथिल बिम्ब, या जीवन्त बिम्ब—नई कविता बहुत अमीर है इसमें।

कई शब्दों के लिए एक शब्दनिर्माण आधुनिक कविता की सहज लक्ष्यमान विशेषता है। 'धूप तीखी है', 'धूल भी बहुत उड़ती है'—इसके लिए 'धूलप' (धूलधूप) शब्द व्यवहृत करेंगे। ऐसी मोटरें हैं जिनमें होटलें रहा करती हैं तो 'मोटेल' (मोटर होटल) कहेंगे। नलिन विलोचन शर्मा ने 'नकेन' में इस प्रकार के प्रयत्न किये हैं। अर्द्धमात्रालाघव जब पुत्रोत्सव का आनन्द देता था तो फिर अक्षरलाघव और शब्दलाघव का कहना ही क्या!

इस तरह शिल्प एव भाषा-सम्बन्धी अनेकानेक ऐसी विशिष्टाएँ हैं जिनके बल पर आधुनिक हिन्दी काव्य को किसी भी आधुनिक उन्नत भाषा के काव्य के समक्ष रखा जा सकता है। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ आज प्राय: संसार की सभी समृद्ध भाषाओं की कविताओं में दृष्टिगोचर होती हैं। किन्तु आधुनिक हिन्दी-काव्य किसी का अनुकरण न कर, स्वयं अपनी आन्तरिक ऊर्जा से ऐसा कर रहा है।

चीनी आक्रमण और हिन्दी कविता

जब कभी मातृभूमि पर अनाचार होता है, उसका स्वत्वहरण किया जाता है, तो सम्पूर्ण जाति का मानस सहसा आन्दोलित-आलोडित हो उठता है, यदि उसमें देशभक्ति का लेश भी हो। १९६२ के अक्टूबर मास में बर्बर चीनियों ने उत्तर दिशा के देवतात्मा नगाधिराज हिमालय, जो शिव के पुंजीभूत अट्टहास की तरह श्वेत-शुभ्र हिमानी चादर ओढ़े खड़ा है, जिसकी ग्रीवा में गंगा और ब्रह्मपुत्र जैसे अनर्घ हीरक-हार लटक रहे हैं तथा जिसके दीप्त भाल को भुककर चूमने के लिए अनन्त-प्रसारी विशाल आकाश लालायित है, उसके मस्तक पर निर्मम पादप्रहार किया। बस क्या था, एक-एक भारतीय के अंतस्तल में विसूवियस का उफान उठ आया। माताओं ने अपने दूध की लाज रखने, बहनों ने अपनी राखियों का मूल्य चुकाने, पत्नियों ने अपनी प्रीति का प्रतिदान देने, पिताओं ने 'आत्मा वै जायते पुत्रा' की प्रतिष्ठा रखने के लिए देश के वीरों को ललकार कर, नेफा और लद्दाख की चट्टानों के शिलीभूत कर देनेवाले शीत में भेजा। वीरों की मस्त टोली सर से कफन बाँधे, मातृभूमि की बलिवेदी पर रक्त-अर्पण के लिए कटिबद्ध हुई। धनियों ने अपने कुबेर-कोष लुटाये, स्त्रियों ने अपने सुहाग की तरह जुगाये हुए आभूषणों को तृणवत् त्याग दिया ताकि टैंकों और मशीनगनों से निकलने वाली कोटि-कोटि गोलियाँ दुश्मनों की छातियों को छलनी-छलनी कर दें।

ऐसी सङ्कट घड़ी में, ऐसी प्रलयवेला में, देश का साहित्यकार कब चुप्पी साधनेवाला था! भारतवर्ष की सभी भाषाओं में ओजस्वी तेजस्वी रचनाएँ आने लगीं ताकि देश का नैतिक-बल संपुष्ट रहे, रणबाङ्कुरों का उत्साह कथंचित् न्यून न हो, किंतु हिंदी कवियों ने जो इसमें योग दिया है, वह तो रेखांकित महत्त्व का है। वह राष्ट्र के लिए अपनी सबसे बड़ी पूँजी लेखनी ही समर्पित करने को उद्यत हो जाता है—

> **सोच रहा हूँ**
> **आज देश पर जब कल के अफीमची चीनियों ने—**
> **आक्रमण कर दिया है**
> **मेरा नेहरू देश की खातिर हाथ पसार रहा है,**
> **मैं अपनी एक मात्र पूँजी**
> **अपनी कलम तुम्हें अर्पित कर रहा हूँ**

माता का सुहाग कोई लूट न ले जाए
इसी से रक्त से कविता लिख रहा हूं
ओ मेरी माँ,
मेरे पूर्वजों की सनातन माँ।   —कृष्णनंदन 'पीयूष'

इस बीच कई प्रकार की रचनाएँ हमारे सामने आयीं जैसे बाँध तोड़कर कोई महानद शत-शत स्रोतों में उद्वेल हो उठा है।

(१) तुकांत कविताएँ
(२) अतुकांत कविताएँ
(३) गीत (प्रेरणागीत, प्रयाणगीत आदि)
(४) व्यंग्य कविताएँ
(५) नई कविता
(६) लघु मुक्तक, रुबाई, शेर आदि।

तुकान्त कविताएँ दो तरह की हैं (१) प्रलब, (२) लघु। प्रलब कविताओं में रामधारी सिंह दिनकर की 'परशुराम की प्रतीक्षा' तथा गोपाल सिंह नेपाली की 'हिमालय की पुकार' उल्लेखनीय हैं। पौराणिक उपाख्यान में नवीन अर्थ-गांभीर्य देकर, देश को सचेत-सप्राण करने की दृष्टि से दिनकर की कविता अधिक महत्त्व की अधिकारिणी है। तुकान्त लघु कविताओं में मैथिलीशरण गुप्त की 'फिर आ गयी परीक्षा है'; माखनलाल चतुर्वेदी की 'गंगा माँग रही है मस्तक', नरेन्द्र शर्मा की 'चुनौती और चेतावनी', श्यामनारायण पाण्डेय की 'हुंकार' रामदयाल पाण्डेय की 'जन-जन यहाँ हिमालय है', रामानंद दोषी की 'हम ज्वालामुखी हैं', रामावतार त्यागी की 'देश की धरती तुझे और कुछ दूँ' तथा सुमित्रा कुमारी सिंह की 'देशगान' जैसी कविताएँ बड़ी ही संजीविनी शक्ति रखती हैं। माखनलाल चतुर्वेदी की कुछ पंक्तियाँ देखें, किस तरह इन्हें पढ़कर मृतप्राय शीत शिराओं में कोरामिन की गर्मी आ जाती है।

गंगा माँग रही मस्तक
जमुना माँग रही सपने।
आज जवानी स्वयं टटोले
सिर हथेलियाँ अपने अपने।

अतुकान्त कविताओं में डॉ० शिवमंगल सुमन की 'सिपाही का पत्र' केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की 'होते यदि गाँधी आज' दिनकर सोनवलकर की 'जाग उठा है सारा देश' तथा रमासिंह की 'पुनरावृत्ति' जैसी कविताएँ बड़ी ही नुकीली तथा चुभन-भरी हैं।

इस अवधि में गीत सर्वाधिक लिखे गये। पत्र-पत्रिकाओं, कवि-सम्मेलनों, रेडियो, रेकार्डों, वृत्तचित्रों, नृत्यगीतों, वाद्य संगीतों आदि की आवश्यकता-पूर्ति के रूप में गीतों का अम्बार लग गया। विभिन्न प्रकार के उत्तेजक-उद्दीपक गीत बने। इस बीच कुछ तुक्कड़ों की, खोटे सिक्कों की भी बन आयी। पैसा ऐंठने के लिए, खुशामद या परिचय के बल पर तरह-तरह के कार्यक्रमों में वे घुमने लग गये। ऐसे नक्कालचियों की तुकबंदियों में जोशो-खरोश की निहायत कमी रही। अंचल, बच्चन, नीरज, राजेन्द्रप्रसाद सिंह, श्यामनंदन किशोर, ब्रजकिशोर नारायण, सदय, रामनरेश पाठक तथा आनंद-नारायण शर्मा के गीतों ने बड़ी ही ख्याति पायी।

व्यंग्य-कविताओं में नागार्जुन की कुछ ज्वलंत कविताएँ आईं। 'इस माओ को जिंदा ही गाड़ दें', 'फाहियान के वंशधर', 'जी हाँ' तथा भारतभूषण अग्रवाल के तुक्तक बड़े ही सफल रहे।

देश के आह्वान पर नयी कविता के मूर्द्धन्य कवियों ने भी अपना अर्घ्यदान दिया। कैलाश वाजपेयी की 'एक दार्शनिक पश्चात्ताप', अनिल कुमार की 'देश एक शक्तिपीठ' तथा इन पंक्तियों के लेखक की 'बेशर्म औलाद दशकंधर की' तथा 'दगाबाज दुश्मन से' जैसी कविताएँ देखी जा सकती हैं।

इस विषय पर इतनी त्वरा से संकलन आये कि विस्मित रह जाना पड़ता है। आगत संचयनों में 'चीन को चुनौती', 'चीन को चेतावनी', 'शख नाद', शख ध्वनि', 'अजय रहे हिमालय', 'हिमालय की पुकार' तथा 'हिमालय' आदि उल्लेख्य हैं।

हमारा उत्साह आवेश आकुल रहे, हमारी प्रतिज्ञा श्रंथित न हो, हमारी ऊष्मा ऊर्जा बनी रहे यही अपेक्षा और विवशता है।

उच्च-शिक्षा—एक पार्श्व-दर्शन

किसी विश्वविद्यालय की कला कक्षा के प्रथम द्वार पर पहुँचते ही उस विद्यार्थी के मन में भारतीय शासन सेवा की इन्द्रधनुषी मृगमरीचिका मँडराने लगती है। वह सोचता है कि प्रतियोगिता में सफल घोषित होते ही उसके समक्ष पैसा, प्रतिष्ठा, पेन्शन और पावर के सारे गवाक्ष खुल जायेंगे। साधारण जनता तो उसे देवदूत समझती है, समझेगी ही, पठित जन-समुदाय के बीच भी उसकी धाक कम न रहेगी। उसके मन में ऐसा विचार शायद स्वप्न में भी नहीं उठता कि वह शासन सम्बन्धी त्रुटियों का मार्जन करेगा, नयी व्यवस्था में एक सजग सेवक की तरह अपना योग देगा। और, यदि विज्ञान का विद्यार्थी हुआ तो उसके सामने डाक्टरों और इञ्जिनियरों का इन्द्र वैभव नाचने लगता है। अगर चिकित्सक हुआ तो 'प्राइवेट प्रैक्टिस' तथा दूसरे नुस्खों के जरिये, इञ्जीनियर हुआ तो ठेकेदारों से 'फिक्सड कमीशन' तथा रिश्वत के जरिये इतना अधिक धन अर्जित कर लगा कि सात पीढ़ियों तक लक्ष्मी को वश्या बनकर रहना पड़ेगा। उसके आवास के लिए अलम्ब तालस्पर्शी, वातानुकूलित, भव्य अट्टालिकायें होंगी, चक्रमण पर्यटन के लिए 'रौल्सर्वायस' या स्टूडिबेकर'।

यह तो शिक्षार्थियों की मन स्थिति हुई। अभिभावक तो यह समझते हैं कि अपने बच्चों को पढ़ाकर मानो अर्थवृक्ष रोप रहे हैं। आठ-दस वर्ष बीतते, वृक्ष बड़ा होते ही फल देना प्रारम्भ कर देगा। उनके सारे अभाव जादूई स्पर्श की तरह छूमंतर हो जायेंगे। हमारा समाज और हमारी सरकार शिक्षा के वास्तविक महत्त्व को नहीं समझ पाती और न उसका यथार्थ मूल्यांकन कर पाती है। समाज तथा राष्ट्र को आज सबसे पहले इञ्जीनियरों की आवश्यकता है क्योंकि उनके समक्ष योजनाएँ अपना मुरसामुख फैलाये खड़ी हैं। उन्हें डाक्टर चाहिये अधिकाधिक संख्या में क्योंकि कल मरनेवाला को आज ही, अभी ही, जल्द-से जल्द परलोक का टिकट दे देना है। उन्हें अधिक-से अधिक अचलाधिकारी या प्रखण्डाधिकारी चाहिये क्योंकि अचल या प्रखण्ड की 'सरप्लस' आय को शीघ्रातिशीघ्र उपभुक्त करना है।

लगे हाथ शिक्षकों एवं प्राध्यापकों की स्थिति पर भी विचार कर लिया जाय। जब सारी सेवाओं पर प्रवेशनिषेध की तख्ती टँग जाती है तब ये हतदर्प पराजित व्यक्ति शिक्षण-संस्थाओं की शरण लेते हैं। वहाँ आने पर चूँकि वे अरुचि

से आये हैं—भौतिकवादी समाज तथा विद्यार्थीवर्ग में उनका आदार कम है, वेतन संतोषजनक नहीं है तथा अन्य आभाशी फल की कोई सम्भावना नहीं है इसलिए ये विवशवीतरागी जैसे-तैसे अपने अमूल्य समय की निर्मम हत्या किया करते हैं। शत-सहस्र में जो दो एक आंतरिक प्रेरणा या शिक्षाप्रेम के कारण आते हैं उन बेचारों पर विश्वास करनेवाले आस्तिक आज समाज में कम ही हैं। अगर कोई प्राध्यापक यह कहे कि मैं विद्या प्रेम के कारण इधर आया हूँ तो समाज 'खट्टा अंगूर कौन खाय' कहकर उसे अपने उपहास का शिकार बना छोड़ेगा। अभी-अभी हमने जो कुछ कहा, वही शिक्षा के यथार्थ स्थितिचित्र का सर्वेक्षण है।

शिक्षा सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं एवं मान्य शिक्षाविदों के शिक्षाविचारों का उल्लेख कर मैं 'चाहियेवाद' की पाँच अवतरणिकाओं को उपस्थित करूँगा।

शिक्षा शब्द 'शिक्ष्' धातु से व्युत्पन्न है जिसके अर्थ ज्ञान अर्जित करना, ज्ञान देना, ज्ञान देने की योग्यता उपार्जित करने की इच्छा रखना, उत्तरदायित्व लेना आदि हैं।

—(मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंगलिश कोष, पृ० १०७०)

शिक्षा के सम्बन्ध में हमारे प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद की धारणा है—

अक्षरण्वन्त कर्णवन्त सखायो
मनोजवेषु असमा बभूवुः। —ऋ० वे०, १०-७-१७

यदि कोई मनुष्य दूसरे से बड़ा है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसके पास कोई अतिरिक्त नेत्र या हाथ होते हैं, बल्कि वह बड़ा इसलिए होता है कि उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा के द्वारा अधिक प्रखर और पूर्ण होते हैं।

महाभारत का कथन है—

नास्ति विद्या सम चक्षु —(१२-३३९-६)

विद्या के समान कोई दूसरा नेत्र नहीं होता।
सुभाषित-रत्न-भाण्डागार की एक सूक्ति है—

अनेक संशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः। —(पृ०३२.२)

"विद्या से हमें जिस ज्योति की प्राप्ति होती है वह संशयों का उच्छेदन करती है, कठिनाइयों को दूर हटाती है तथा जीवन के वास्तविक महत्व को समझने

योग्य बनाती है। जिसको ज्ञान की ज्योति उपलब्ध नहीं, वह अंधा है।"
आधुनिक भारत के महान् चिंतकों में विवेकानन्द के विचार देखें—

"Education is not the amount of information that is put into your brain and runs riot there, undigested, all your life We must have life building, man making, character building, assimilation of ideas If you have assimilated five ideas and made them your life and character, you have more education than any man who has got by heart a whole library." —*Collected works vol 3*

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है—

"पुस्तकीय बाबूपन में भी वह आनन्द प्राप्त नहीं होता जो ज्ञान को स्वय अपने हाथ हिलाकर प्राप्त करने या कठोर परिश्रम द्वारा सत्य की खोज करने में मिलता है।' —शिक्षा, पृ० ६१

महात्मा गांधी का कहना है—

शिक्षा एक योग है। शिक्षा संस्थाओं का ध्येय 'साविद्या या विमुक्तये' होना चाहिये। शिक्षा का विषय है चरित्र गढना—
—गांधीजी की सूक्तियाँ

विनोबा भावे का कहना है—

"महान् शिक्षा वह है जो हमें स्वावलम्बी बनाये।"
—जीवन और शिक्षण

अंग्रेज शिक्षा शास्त्री रस्किन का कहना है—"Education does not mean teaching people to know what they do not know, it means teaching them to behave as they do not behave"

बर्ट्रेण्ड रसेल के ये विचार द्रष्टव्य हैं—"The more purely intellectual aims of education should be the endeavour to make us see and imagine the world in an objective manner as far as possible, as it really is in itself, and not merely through the distorting medium of personal desires"

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि शिक्षा वर्त्तमान ज्ञान, हस्ताक्षर जानकर भारत के शिक्षितों की सूची में परिगणित होना या कुछ पाठ्य पुस्तकों का तोतारटन्त ज्ञान नहीं है वरन् शिक्षा तो मनुष्य के तृतीय नेत्र खोलती है, वह जीवन, जगत् एवं प्रकृति के रहस्योद्घाटन की सामर्थ्य प्रदान करती है, शारीरिक एवं मानसिक विकास का संतुलन रखती है, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व गठन, आत्म-विश्वास एवं आत्मनिग्रह, विवेक एवं निर्णयात्मक शक्ति, सभ्यता एवं संस्कृति के संरक्षण एवं संवर्द्धन के दिव्य मंत्र सिखाती है। अगर शिक्षा ऐसा नहीं कर पाती तो वह और कुछ भले ही हो, शिक्षा नहीं कहला सकती।

शिक्षा के स्वरूप विस्तार के उपरान्त शिक्षा से सम्बन्धित शिक्षक, शिक्षार्थी, अभिभावक, समाज एवं राष्ट्र के उत्तरदायित्व पर विचार करें।

शिक्षक

शिक्षक का उद्देश्य केवल अर्थ अर्चना नहीं, वरन् ज्ञान की सतत वर्द्धमान पिपासा, सत्य का निर्भीक अन्वेषण, जीवन के महोच्च मूल्यों में आस्था एवं उसकी स्थापना के लिए भगीरथ प्रयत्न तथा शिक्षार्थियों के बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नयन होना चाहिये। शिक्षक और शिष्य के बीच जितनी दूरी रहेगी, शिक्षा उतनी ही कम फलवती होगी। शिक्षक अपने अन्तेवासी का सम्मान करना सीखें तभी उनकी ज्ञानज्योति अहरह प्रज्वलित रहेगी। (संस्कृत की एक सूक्ति है—

छात्र देवान्नमस्कृत्य
सर्वे स्यु मन्यवादिन
तेन तुष्टेन तुष्टं स्याद्
हृष्ट हृष्टेषु वै सुहृद्।

अतः जबतक शिक्षक शिष्य को देवतुल्य नहीं समझता, तबतक वह अपना कर्त्तव्य पूरा कर ही नहीं सकता।

इमरसेन ने ठीक ही कहा है—

The secret of education lies in respecting the pupil.)

शिक्षक अगर अपने वर्त्तमान ज्ञान पर दम्भ करके अध्ययन करना छोड़ दे तो इससे बड़ा पतन संभव नहीं। इसलिए कहा गया है कि विप्र को यावज्जीवन स्वाध्याय नहीं छोड़ना चाहिये। रविबाबू का विचार प्रत्येक शिक्षक को जीवनस्थ करना चाहिये कि एक शिक्षक कभी सचाई से अपने विद्यार्थियों को शिक्षा दे नहीं सकता, जबतक वह सतत सीख नहीं रहा हो। एक दीपक दूसरे दीपक को प्रज्वलित कर नहीं सकता जबतक वह स्वयं जल नहीं रहा हो।

शिक्षार्थी

काकचेष्टा, बकोध्यानम्, श्वाननिद्रा, अल्पभोजन, तथा गृहत्याग—ये विद्यार्थियों के पाँच लक्षण बतलाये गये हैं। आज यह उक्ति मनोविनोद भले ही उत्पन्न करती हो, किन्तु इसमें विद्यार्थियों के आचार एवं व्यवहारपथ की सीमा निर्धारित की गयी है। विद्यार्थियों के लिये दो बातें बड़ी आवश्यक हैं—

(१) ज्ञान की अगस्त्य-पिपासा

(२) श्रद्धा की आरुणि-प्रतिमा।

जबतक विद्यार्थी हर समय और अधिक सीखने के लिये उत्कंठित नहीं रहेगा तबतक वह सम्यक् और सम्पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर ही नहीं सकता। श्रद्धा तो वह अमोघ अस्त्र है जिसके द्वारा ही ज्ञान का चक्रवर्तित्व संभव है। उपनिषदों ने ठीक ही उद्घोषित किया है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।' बुद्ध तथा आपस्तम्ब ने अपने सूत्रों में विद्यार्थियों को गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा रखने का आदेश दिया है। शिक्षार्थियों को कबीर का यह उपदेश न भूल जाना चाहिये—

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान
सीस दिया जो गुरु मिले, तो भी सस्ता जान।

शिक्षार्थी को छात्र भी कहते हैं। छात्र का अर्थ है छत्र की तरह शीलवाला। छत्र स्वयं आतप सहता है किंतु दूसरों को छाया प्रदान करता है। छात्र भी स्वयं कष्ट सहकर, समाज, राष्ट्र, एवं विश्व को सुख पहुँचाये।

छात्र को श्रद्धावान् होना चाहिये। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'। गुरु के प्रति कृतज्ञता तो उसका परम धर्म है। ये प्राचीन सूक्तियाँ हैं—

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिवन्दति।
श्वानयोनिशतं भुक्त्वा चाण्डालेष्वभिजायते॥
एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्॥

अभिभावक

किसी चिंतक ने कहा है कि शिक्षा का आरम्भ घर से ही होता है। आज तो कम से कम इस पर ध्यान रखना चाहिये। एक समय जब गुरुकुल थे, या नालन्दा, विक्रमशिला या उदन्तपुरी के शिक्षण-संस्थान थे तो उस समय शिक्षक और शिक्षार्थी हरवक्त एक साथ रहते थे। जीवन-निर्माण एवं ज्ञान-अर्जन का कार्य एक साथ चलता

था किन्तु आज का विद्यार्थी शिक्षा के कारखाने में दो तीन घंटे तक अपनी ड्यूटी बजाकर अपने-अपने घर चला जाता है। शिक्षक महोदय भी एक सप्ताह में एक दो बार कुछ मिनटों तक अपना उड़ता व्याख्यान दे चले जाते हैं। शिक्षक और शिष्य का वैयक्तिक संपर्क आज होता ही नहीं। अतः विद्यार्थियों की शिक्षा ठीक से हो-इसका अधिक भार अभिभावकों पर आ गया है। यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि लिखने में जितना समय लगता है फाड़कर रद्दी की टोकरी में फेंकने में उतना समय नहीं लगता, भवन-निर्माण में जितना समय लगता है ध्वस्त करने में उतना समय नहीं लगता, हौज भरने में जितना समय लगता, रिक्त करने में उतना समय नहीं लगता। दस-पाँच मिनट या एक दो घंटे तक जो कुछ विद्यार्थी सीख आता है वह उचित संरक्षण के अभाव में अवशिष्ट बीस बाईस घंटों में विनष्ट कर देता है। बाप दिन भर शतरंज खेल, फ्लश खेल और बेटे से उम्मीद करे कि वे 'सत्य के प्रयोग' पढ़े; स्वयं बीयर, ह्विस्की या शेम्पेन से अपनी थकान मिटाये और बेटे से तिलक के 'गीता भाष्य' पढ़ने की आशा रखे यह बिलकुल बेतुकी बात है। अगर अभिभावक चाहता है कि उसके लड़के अच्छी शिक्षा प्राप्त करें तो उसे अपने घर को क्लब नहीं, देव मंदिर या सरस्वती अधिष्ठान बनाकर ही रखना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि आज के अधिकतर व्यक्ति कपड़े में, पुरानी रूढ़ियों के गर्दभ-भार ढोने में या बेमतलब की मुकदमेबाजी में खर्च करते रहते हैं, उसका शतांश भी शिक्षा में व्यय करना नहीं चाहते। पाखाने के फर्श पर संगमरमर बिछाने में जो अपनी थैली खोल देता है, पुस्तकों के क्रय में सारी दरिद्रता उसी के घर चली आती है। ऐसे लोगों को फ्रेंकलिन की यह बात याद रखनी चाहिये।

"If a man empties his purse into his head, no man takes it away from him An investment in knowledge always pays the best interest.'

समाज

शिक्षा के स्खलन में समाज का भी कम दोष नहीं। संसार की सारी सम्पदाओं को लात मारकर द्रोणाचार्य इसलिए विद्या-अर्चना करते थे कि समाज सर्वाधिक आदर उन्हें देता था। चित्रकूट की सभा में मर्यादा पुरुषोत्तम राम, चंचरीक के वन में चम्पक की तरह निवास करनेवाले भरत, योग को भोग के बीच गुप्त रखनेवाले विदेह बैठे हुए हैं लेकिन सबका मुख वशिष्ठ की अमृतवाणी सुनने के लिए उत्कंठित है। जिस समाज में विद्याव्यसनी लोगों को ऐसा आदर मिलता है उसी समाज में शिक्षा का चरम विकास होता है। दिनकर की ये पंक्तियाँ बड़ी प्रसंगानुकूल हैं—

कवि, कोविद, विज्ञान विशारद, कलाकार, पंडित, ज्ञानी,
कनक नहीं, कल्पना, ज्ञान, उज्जवल चरित्र के अभिमानी,
इन विभूतियों को जबतक संसार नहीं पहचानेगा,
राजाओं से अधिक पूज्य जबतक न इन्हें यह मानेगा;
तबतक पड़ी आग में धरती, इसी तरह, अकुलायेगी,
चाहे जो भी करे, दुखों से छूट नहीं यह पायेगी।

राष्ट्र

भारत जगद्गुरु इसलिए कभी था कि शिक्षा और विद्या को अपना श्रेय और प्रेय समझता था। आज विश्व के जो देश अधिक से अधिक समुन्नत हैं, वहाँ भी शिक्षा साधना को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। कलासाधना एवं वैज्ञानिक अन्वेषण के पीछे वे राष्ट्र अपने डालरों और रुबलों को पानी की तरह बहाते हैं। शेक्सपियर का गाँव उनके लिए मक्का मदीना या काशी-प्रयाग बन गया है। लेनिन और स्तालिन को चिरस्मरणीय बनाने की चेष्टा उन्होंने जितनी की है, यूरी गागारीन को अविस्मृत बनाने की उससे कम चेष्टा नहीं। किन्तु हमारे देश और उसके भाग्यविधाताओं के मस्तिष्क में पता नहीं, यह बात कब आयेगी। विनोबाजी ने बराबर कहा है 'गरीब देश का जितना खर्च होता है उससे आधे से ज्यादा शिक्षण पर होना चाहिये।' परन्तु उनकी बातों पर कान देनेवाला कोई नहीं है। अगर हमारा राष्ट्र अपना विलुप्त गौरव पाना चाहता है तो बर्के और गाल्सवर्दी की इन बातों का पालन पूर्ण दृढता से होना चाहिये—

1. Education is the cheap defence of the nations.

2. States should spend money and effort on this great all-under-lying matter of spiritual education as they have hitherto spent them on beating and destroying others.

पश्चिमी जर्मनी की विश्वविद्यालीय शिक्षा

आज हमारा देश समस्याओं के उलझनपूर्ण मिलनपथ पर खड़ा है। जटिलतम एवं जिह्वतम समस्या है उच्च शिक्षा की। सुनियोजित उच्च शिक्षा के द्वारा ही किसी राष्ट्र की सर्वतोमुखी प्रगति सभव है। हम अपनी शिक्षा में वाञ्छनीय सुधार तब तक नहीं कर सकते जब तक विश्व के विकसित राष्ट्रों के शिक्षा-प्रसार एव उनकी वैज्ञानिक परिनिष्ठित शिक्षण-पद्धतियों पर ध्यान केन्द्रित न करें।

संसार के महान् राष्ट्रों में एक पश्चिमी जर्मनी भी है। जर्मनी में जो विगत पचास वर्षों से झंझावात चलता रहा है—यह किसी से छिपा नहीं है। द्वितीय महायुद्ध काल में जो भयानक ध्वसलीला जर्मनी में हुई और उसके कारण जो अपार क्षति हुई, उसका अनुमान करना भी कठिन है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी में एक भी शिक्षाकेन्द्र न रहा, एक भी विद्यालय न रहा। यह बात मे अभिधा में कह रहा हूँ, लक्षणा में नहीं। किन्तु जब तूफान शात हुआ, जर्मनी का शरीर नुकीले आरा के द्वारा चीर दिया गया तो भी वहाँ के अमित साहसी निवासियों ने हार न मानी और इन पद्रह वर्षों में अहर्निश कठोर परिश्रम करके अपनी स्थिति में आशातीत परिवर्तन किया।

हमारा देश भी करीब सहस्र वर्षों तक परतन्त्र रहा। जब यह मुक्त हुआ तब इसे सब कुछ ध्वस्तप्राय ही प्राप्त हुआ। अतः पश्चिमी जर्मनी की शिक्षा—विशेषतः विश्वविद्यालीय शिक्षा का सर्वेक्षण हमारे विश्वविद्यालयों तथा सरकार के लिए उत्प्रेरण का कार्य करे तो हमें बड़ा सतोष होगा।

जर्मनी में छह वर्ष की आयु से अट्ठारह वर्ष की आयु तक अनिवार्य नि शुल्क शिक्षा दी जाती है। प्राथमिक शिक्षा छह वर्ष से पन्द्रह वर्ष की आयु तक। पन्द्रह वर्ष की आयु के बाद दो शाखाएँ फूटती हैं (१) व्यावसायिक शिक्षा की ओर तथा (२) सामान्य उच्च शिक्षा की ओर जिससे प्राविधिक, कला, विज्ञान, विधि, भैषज्य आदि के क्षेत्र में जाया जा सकता है। अट्ठारह वर्षों की आयु में व्यावसायिक शिक्षा समाप्त हो जाती है तथा उन्नीस वर्षों की आयु में माध्यमिक शिक्षा। उन्नीस वर्षों की आयु के पश्चात् जर्मनी में विश्वविद्यालीय जीवन प्रारंभ हो जाता है। विद्यालय-जीवन के बाद विद्यार्थी एकाएक विश्वविद्यालीय जीवन में प्रविष्ट

करता है, बीच में उसे महाविद्यालय (कॉलिज) में ठहरना नहीं पड़ता। जर्मनी के माध्यमिक विद्यालयों में जितना कठोर निग्रह एवं नियंत्रण है उतना शायद ही संसार के किसी अन्य देश में हो, किन्तु ज्योंही विद्यार्थी विद्यालयजीवन की रुद्ध कारा तोड़कर विश्वविद्यालय में आ धमकता है तो फिर पूर्ण उन्मुक्ति एवं स्वातंत्र्य प्राप्त करता है और यह भी स्मरणीय है कि ऐसी उन्मुक्ति और स्वातंत्र्य शायद ही संसार के किसी देश के विश्वविद्यालयों में हो।

जब विद्यार्थी विद्यालयों के लक्ष्मण-वृत्त से निकलता है तो फिर वह समझ नहीं पाता है कि उसे क्या करना है, कहाँ जाना है। बिना कर्णधार और पतवार के वह मँझधार में छोड़ दिया जाता है। पूरे दो सत्र अर्थात् एक वर्ष के बाद कहीं वह किनारे पर लग पाता है। जर्मनी के विश्वविद्यालयों में कहीं पाठ्यक्रम और निर्देशन है ही नहीं। प्रत्येक विद्यार्थी उत्तरदायी व्यस्क समझा जाता है और वह अपना कर्त्तव्य भलीभाँति जानता है। एक वर्ष तक वह विभिन्न व्याख्यान-कक्षों में चक्कर काटता रहता है। आज सोचता है कि उसे विधिवेत्ता होना चाहिए, कल गणितज्ञ और परसों संगीत का अध्येता। जबतक वह विषय को स्वयमानुभूत नहीं कर लेता, जबतक उसे विषय के प्रति गहन आस्था नहीं होती तबतक वह कोई विषय चुन नहीं सकता। जब विद्यार्थी को किसी विषय से पूर्ण अनुरक्ति हो गई तो वह विशेषज्ञ प्राध्यापकों की छत्रछाया में उस विषय का अध्ययन आरंभ कर देता है। जर्मनी के विश्वविद्यालयों की तीन विशिष्टताओं पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) जर्मनी के विश्वविद्यालयों में निर्धारित पाठ्य पुस्तकें नहीं होतीं। इसलिए प्राध्यापक और विद्यार्थी पूर्णतः स्वतंत्र हैं। प्राध्यापक अपने मनोनुकूल विषय पर भाषण दे सकता है तथा अध्येता स्वेच्छापूर्वक विषय का अध्ययन कर सकता है। (२) उन विश्वविद्यालयों में उपस्थिति लेने की पद्धति नहीं है। यदि विद्यार्थी अनुभव करता है कि वह घर पर ही अधिक पढ़ लेगा या पुस्तकालयों में बैठकर ही अधिक तैयारी कर लेगा तो वह कक्षाओं में नहीं जायगा। (३) वहाँ नियमित आवधिक परीक्षाएँ या जाँच नहीं होतीं केवल अन्तिम परीक्षाएँ हैं जिनमें अंक देने की प्रथा नहीं है। अत्युत्तम, उत्तम, साधारण जैसा ही कुछ दे देने से काम चल जाता है।

जर्मनी में दो प्रकार की परीक्षायें होती हैं। (१) विश्वविद्यालीय परीक्षा— उपाधि हेतु, (२) राजकीय परीक्षायें—हमलोगों के देश जैसे राज्य-सेवा-आयोग या केन्द्र सेवा आयोग की तरह सरकारी नियुक्तियों के लिए। इन परीक्षाओं में एक ही जरूरी शर्त्त है कि परीक्षार्थी ने आठ अर्द्धवार्षिक सत्र (सेमेस्टर्स) समाप्त किये हैं अथवा नहीं। अर्थात् चार वर्षों के

बाद वह विश्वविद्यालीय परीक्षा के लिए अपने को निबंधित करा सकता है। प्रोद्योगिकी में अन्तिम डिप्लोमा परीक्षा के लिए एक शोध प्रबंध समर्पित करना होता है जो मौलिक अनुसंधान पर आश्रित रहता है। जब शोधप्रबंध स्वीकृत हो जाता है तो एक लिखित तथा एक मौखिक परीक्षा देनी होती है। यह उपाधि अन्य देशों के एम० ए० या एम० ए० से कुछ बढ़कर है। डॉक्टरेट डिग्री के लिए पुनः शोधप्रबंध लिखना होता है। कला के क्षेत्र में जर्मनी के अधिकांश विश्वविद्यालयों में अंतिम परीक्षा डॉक्टरेट की ही है। इधर दो तीन विश्वविद्यालय एम० ए० की उपाधि भी देने लगे हैं।

किंतु वह प्राविधिक क्षेत्र हो या कला का, विश्वविद्यालीय प्राध्यापकों को एक और शोधप्रबंध सब निकायों के समक्ष उपस्थित करना होता है और सब निकाय जब संतुष्ट हो जाते हैं तब उन्हें 'वेनिआ लिगेन्डी' (विश्वविद्यालीय शिक्षण के योग्य प्राध्यापक) मान लिया जाता है।

अतः विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों को कठिन साधना करनी पड़ती है। उन्हें नियुक्ति के लिए दौड़ना नहीं पड़ता वरन् विश्वविद्यालयों की सिनेट स्वयं ही उन्हें आमंत्रित करती है। ये प्राध्यापक अपने सम्पूर्ण जीवन को शिक्षा की बलिवेदी पर उत्सर्ग कर देने वाले महान् तपस्वी होते हैं। इसलिए डॉ० जाकिर हुसैन का स्वयमानुभूत कथन सत्य प्रतीत होता है कि जर्मनी के प्राध्यापक संसार में अपना उदाहरण आप ही हैं। ये अपने विद्यार्थियों को तोते की तरह रटाते नहीं हैं वरन् इनका काम अध्येताओं का मार्ग प्रशस्त करना है, अन्तर्दृष्टि प्रदान करना है। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों का मस्तिष्क केवल सूचनाओं का केन्द्र नहीं होता, उन्हें 'जैक ऑफ आल ट्रेड्स' बनने की सलाह नहीं दी जाती वरन् उन्हें विश्लेषणात्मक चिंतन एवं क्रमबद्ध शोध के लिए अभ्यस्त होने को अनुप्रेरित किया जाता है।

एक विश्वविद्यालीय प्राध्यापक सप्ताह में छह घंटे पढ़ाता है। चार घंटों में व्याख्यान तथा दो घंटों की विमर्श-गोष्ठी (सेमिनार)। इन्हीं दो घंटों में विद्यार्थी शिक्षक के सम्पर्क का परम-रस प्राप्त करता है। हमारे यहाँ के विश्वविद्यालयों में अठारह घंटे अनिवार्य हैं और बहुत कम विभाग हैं जहाँ विमर्श-गोष्ठी नियमित रूप से चलती हो। वहाँ प्राध्यापकों का वेतन सर्वोच्च राजकीय कर्मचारी के समान-हमारे यहाँ के प्राध्यापकों से तीन-चार गुना अधिक होता है। वहाँ प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षकों को छह सात सौ रुपये प्रतिमास मिलते हैं जब कि हमारे विश्वविद्यालयों में 'दण्डं गलितं मुण्डं पलितं दशनविहीनं जातं तुण्डम्' की स्थिति प्राप्त कर जाने वाले प्राध्यापकों को ही।

कविता और संस्कृति

कविता विचारात्मक प्रतिक्रिया है।

या प्रेरणात्मक प्रतिबिम्ब।

संस्कृति-संस्कार अर्थात् परिष्कार है।

संस्कार या परिष्कार किसका? वाह्य संस्कार भी चाहिये किन्तु आंतरिक संस्कार अधिक अभीप्सित है। महान् राष्ट्र का वाह्य तो शोभन होना ही है किन्तु बल दिया जाता है उसके व्यक्तियों के अंतर्मन के शोभनत्व पर। बहिर्मुखता यदि अंतर्मुखता से सम्पृक्त हो तो क्या कहना? कनककलश जैसे अमृत से लबालब भरा। कविता संस्कृति की ध्वनिविस्तारिका है, संस्कृति कविता की प्राणधारा। सौम्य संस्कृति सौर्वरक भूमि है, कविता पाटल प्रसून। कविता से संस्कृति को सुषमा और सुरभि का प्रसाद मिलता है, संस्कृति से कविता को अजरत्वदान; एवंविध परस्पर संबंध की सनातनता स्वयंसिद्ध है।

प्रत्येक युग की संस्कृति का अपना पृथक् व्यापारचिह्न होता है। सतयुग-संस्कृति, त्रेता-संस्कृति, द्वापर-संस्कृति और कलि-संस्कृति की धारणाओं एवं विशिष्टताओं में पर्याप्त पार्थक्य होगा। सतयुग-संस्कृति का वासी स्वप्नदत्त वचन की रक्षा जीवन के मूल्य पर भी करेगा, मर्मभेदी मरघट में अपने एकलौते के शव को ढाँकनेवाली शैव्या के आँचल का कफन उगाहे बिना बाज नहीं आयेगा। त्रेता-संस्कृति का व्यक्ति अपनी विमाता की एक इच्छा पर अपने सारे सुखों को लात मार देता है, एक अदना धोबी के भी टिप्पणी देने पर हेमवर्णा, चन्दनगंधा, पूर्णगर्भा प्राणप्रिया को गहन निर्जन हिंस्रश्वापद कांतार में भेज देता है, एक भाई अपने पितृतुल्य भ्राता की काष्ठपादुका की पूजा के समक्ष चक्रवर्ती साम्राज्य के प्रभुत्व को तृणवत् समझता है, एक सेवक अपने स्वामी के लिए अनेकानेक दुर्गम शैलों को रौंदता हुआ, भयावन समुद्र को लाँघता हुआ सोने की लंका भस्म कर देता है, एक अनुज अपने भ्रातृ-उपासन के लिए द्वादश वर्षों तक निद्रा को अपने पास फटकने न देकर असम्भव को सम्भव कर दिखलाता है, एक पत्नी अपनी पतिभक्ति के आगे लपलपाती प्रज्वलित अग्निज्वालाओं एवं सुरेश्वरों को तिलांजलि दे देती है किंतु द्वापर-संस्कृति का एक ईश्वर भी इंच-इंच पर प्रवंचनाओं का क्रूर रचना रचता है। पाँच पतिवाली द्रौपदी का स्वामी, 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो' का

सत्यवचन बोलनेवाला भी धर्मराज के विशेषण से विभूषित होता है तथा त्रिभुवन पृथ्वी का प्रभु भी अपने ही चचेरे भाइयों के लिए 'शूच्यग्रं नैव दास्यामि' का अमानुषी कथन करता है। कलियुगी संस्कृति के तो भगवान् ही मालिक। मानव जाति को त्रयग्रस्त करनेवाली समग्र विषमताओं के उन्मूलक गाँधी और केनेडी जैसे देवदुर्लभ पुरुष को जहाँ गोलियों का उपहार दिया जाता है, वहाँ तो कभी-कभी परछाइयों से ही आस्था डिगने लगती है।

इस तरह भिन्न भिन्न संस्कृतियों में पलने पनपने वाली कविता भी भिन्नधर्मा हो जायगी। वाल्मीकि और व्यास, कालिदास और भवभूति, होमर और एस्कायलस, पुश्किन और पास्तरनक, गेटे और हरमेन हेस, बालजक और मान, चण्डीदास और माइकल, भूषण और मैथिलीशरण की संस्कृतियों के अन्तर से उनकी कविताओं की हृद्गति और तापमान में अन्तर दिख पड़ेगा।

वाल्मीकिकालीन संस्कृतिके बहिरंग और अंतरंग की एकतानता सर्वत्र दर्शित होती है। सरयू के तट पर समतल मैदान में दस योजन लम्बी और दो योजन चौड़ी एक श्रीमती महापुरी अयोध्या थी। उसका नाम ही उसकी अजयता का सूचक था। उसके चतुर्दिक विशाल परकोटे और जलपूर्ण अगाध खाइयाँ थीं। यद्यपि इसकी रक्षा के लिये अनगिनत सैनिक, सनाध्यक्ष, यन्त्रादि थे, फिर भी अपने ऐश्वर्य एवं सौन्दर्य के कारण वह सर्वदा शत्रुओं की गृध्र दृष्टि को आमन्त्रित करती रहती थी।

नगरी में सुन्दर प्रशस्त एवं व्यवस्थित पथों का जाल बिछा था। दूकानों और घरों की कतारें थीं, गलियाँ और सड़कें रथ्या कही जाती थीं तथा राजप्रासाद को जानेवाले मार्ग राजपथ कहलाते थे। उन्हें प्रतिदिन मार्जित किया जाता था, उनपर प्रतिदिन जल छींटे जाते थे और पुष्प बिखेरे जाते थे। रात्रिप्रकाश के लिये दीपवृक्ष थे। चत्वरों पर लोग एकत्र हो तरह तरह की चर्चाएँ किया करते थे। अयोध्या में अट्टालिकाओं और रत्नसौधों की भरमार थी। ये विमानाकार अनेक खनों वाले और रत्नजड़ित थे। अयोध्या के पथों एवं भवनों की यह व्यवस्था शतरंज की गद्दी की तरह अष्टकोणात्मक था। वाल्मीकि ने अयोध्या का जो रूप हमारे सामने रखा है वैसा सुनियोजित, सुविकसित नगर आज के न्यूयार्क, वाशिंगटन, लंदन, पेरिस और टोकियो भी शायद ही हों।

> आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
> श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा। १।५।७
> राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
> मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः। १।५।८

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरुपशोभिताम् ।
कूटागारैश्च संपूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ! १।५।१५
चित्रा मष्टा पदाकारां वरनारीगणैर्युताम् ।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम् । १।५।१६

किन्तु यहाँ का निवासी 'ऊँचनिवास नीच करतूती' को उदाहृत नहीं करेगा। जब सीता आकाशमार्ग से रावण द्वारा हरी जा रही थी तो उन्होंने अपने कुछ आभूषण गिरा दिये थे। राम ने अपने छोटे भाई लक्ष्मण से पूछा कि क्या तुम सीता के इन आभूषणों को पहचानते हो ? लक्ष्मण का उत्तर है :—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्। ४।६।२२

लक्ष्मण सीता के बाजूबंद और कुंडल को कैसे जानें, वे केवल पाँवों के बिछुये को जानते हैं। कारण, चरणवंदना के समय नित्यशः उन्हें देखा करते थे। ऐसा चरित्र तो सचमुच किसी महान् संस्कृति की नियामत हो सकता है, आज के छोकड़े का चरित्र-स्खलन देखें, तो बोध हो तब और अब का अन्तर।

रामायणकालीन संस्कृति और बीसवीं शताब्दी की संस्कृति में आकाश-पताल का फर्क दीखता है। वाल्मीकि के राम पूर्ण मनुष्य हैं। वे धर्मज्ञ, सत्यसंध, यशस्वी, ज्ञान-सम्पन्न, शुचि, प्रजापालक, धर्मरक्षक, आत्मरक्षक, सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ,स्मृतिमान् प्रतिभा-वान्, सर्वलोकप्रिय, विचक्षण, सर्वगुणोपेत, समुद्र की तरह गंभीर, हिमवान् की तरह धैर्यवान्, विष्णु की तरह वीर्यवान्, चन्द्र की तरह प्रियदर्शन, कालाग्नि की तरह क्रोधवान्, पृथ्वी की तरह क्षमावान्, कुबेर की तरह दानी, सत्य भाषण में अपार धैर्य की तरह हैं।[1]

---

[1] *समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्*
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्।
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ।
स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः.
तमेवंगुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमम् । १।१—(११-१२)

किन्तु आज का मनुष्य कितना खोखला हो गया है इसका वर्णन टी० एस० इलियट के 'The Hollow Men' में द्रष्टव्य है।

We are the hollow men
We are the stuffed men
Leaning together
Headpiece filled with straw Alas!
Our dried voices, when
We whisper together
Are quiet and meaningless
As wind in dry grass
Or rat's feet over broken glass
In our dry cellar
Shape without form, shade without colour
Paralysed force, gesture without motion;

इसी तरह भगवान् जैसा अलौकिक प्रेमी रसखान के यहाँ घोर लौकिक बन जाता है। अब वेदों, पुराणों में उसके अन्वेषण से क्या लाभ, वह तो कुंजकुटीर में बैठकर राधा के पाँव चापने में लीन है। पूतनामहारक गोवर्धनधारक का यह रूप?

ब्रह्म मैं ढूढ्यौ पुरानन वेदन,
भेद सुन्यौ चित चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कबहूँ,
वह कैसो स्वरूप और कैसे सुभायन।
ढूढत ढूढत ढूढि फिर्यो रसखानि,
बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो कहाँ? वह कुंज-कुटीर में,
बैठ्यो पलोटत राधिका पायन।

विकसनशील संस्कृति और मरणशील संस्कृति (Dying culture) में कविता के बहिरंग और अंतरंग में तत्सम्बन्धी परिवर्तन हो जाता है।

संस्कृति का विभाजन कई प्रकार से संभव है। जैसे—

(क) हिन्दू संस्कृति
मुस्लिम संस्कृति
इसाई संस्कृति
पारसी संस्कृति
द्राविड संस्कृति आदि

(ख) एशियाई संस्कृति
अमेरिकी संस्कृति
यूरोपीय संस्कृति
अफ्रीकी संस्कृति
(ग) प्राच्य संस्कृति
प्रतीच्य संस्कृति
(घ) प्रागैतिहासिक संस्कृति
ऐतिहासिक संस्कृति
मध्यकालीन संस्कृति
आधुनिक संस्कृति
(ड) भौतिकवादी संस्कृति
अध्यात्मवादी संस्कृति
(च) जनतांत्रिक संस्कृति
राजसत्तात्मक संस्कृति
(छ) ईश्वरवादी संस्कृति
अनीश्वरवादी संस्कृति
(ज) वैदिक संस्कृति
रामायणकालीन संस्कृति
महाभारतकालीन संस्कृति
पौराणिक संस्कृति

झ—समन्वयशील संस्कृति (Assimilative culture)
असमन्वयशील संस्कृति (Unassimilative culture)

इस तरह के वर्गीकरणों के आधार पर कविता और संस्कृति के संबंधों का विश्लेषण विस्तारपूर्वक किया जा सकता है। कविता संस्कृति से जितना ग्रहण करती है, प्रतिदान में कम नहीं देती। संस्कृति कविता से परंपरा को, जिसमें सहस्राधिक वर्षों से मानवतानुभूतियाँ संचित हैं, अत्यंत दृढ़ता एवं आस्थापूर्वक अनुभूत करने की शक्ति अर्जित करती है।[1]

---

1 Birth and death, food and fire sleep and waking, the motions of the winds the cycles of the stars, the budding and falling of the leaves, the ebbing and flowing of the tides—all these things have, for thousands of years, created an accumulated tradition of human feeling and what culture appropriates from the art of poetry is the power to realize this tradition, to realize it ever more reverently and ever more obstinately

कृपया देखें —
—The meaning of culture, John Cowper Powys Page 46

सहायक साहित्य

संस्कृत

१. ऋग्वेद
२. सामवेद
३. अथर्ववेद
४. यजुर्वेद
५. शतपथ ब्राह्मण
६. नारदपाञ्चरात्र
७ पातञ्जल योगसूत्र
८. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र
६. गीता
१०. ईशोपनिषद्
११. भागवतपुराण
१२. विष्णुपुराण
१३. वाल्मीकि रामायण
१४. महाभारत
१५. कालिदास-ग्रंथावली
१६. उत्तररामचरित
१७. गीतगोविंद
१८. अमरुशतक
१६. शिशुपालवध
२०. नैषधीयचरित
२१. साहित्यदर्पण
२२. ध्वन्यालोक
२३. काव्यमीमांसा
२४. स्तुतिकुसुमांजलि

पालि

१. धम्मपद

हिन्दी

१.	रामचरितमानस	तुलसीदास
२.	विनयपत्रिका	,,
३.	कबीर-ग्रंथावली	कबीर
४.	सूरसागर	सूर
५.	बिहारीबोधिनी	बिहारी
६.	उद्धवशतक	रत्नाकर

७.	कृष्णायन	द्वारिका प्रसाद मिश्र
८.	प्रियप्रवास	हरिऔध
६.	भारतभारती	मैथिलीशरण गुप्त
१०.	द्वापर	,,
११.	अनामिका	निराला
१२.	अर्चना	,,
१३.	आराधना	,,
१४.	गीतगुंज	,,
१५.	नीहार	महादेवी
१६.	नीरजा	,,
१७.	रश्मि	,,
१८.	सान्ध्यगीत	,,
१६.	दीपशिखा	,,
२०.	वीणा	पंत
२१.	ग्रंथि	,,
२२.	पल्लव	,,
२३.	गुंजन	,,
२४.	ग्राम्या	,,
२५.	युगांत	,,
२६.	स्वर्णकिरण	,,
२७.	स्वर्णधूलि	,,
२८.	उत्तरा	,,
२६.	रजतशिखर	,,
३०.	अतिमा	,,
३१.	लोकायतन	,,
३२.	उर्वशी	दिनकर
३३.	नकेन	नलिनविलोचन शर्मा, केसरी कुमार तथा नरेश

३४. सतरंगे पंखोंवाली — नागार्जुन
३५. अनागता की आँखें — वीरेन्द्रकुमार जैन
३६. कनुप्रिया — धर्मवीर भारती
३७. ईहामृग — वचनदेव कुमार
३८. क्वार की साँझ — रामनरेश पाठक
३९. आओ खुली बयार — राजेन्द्र प्रसाद सिंह
४०. तीसरा सप्तक — अज्ञेय
४१. अरी ओ करुणा प्रभामय — ,,

बंगला

१. चंडीदासेर पदावली
२. संचयिता — रवीन्द्रनाथ ठाकुर
३. गीताजलि — ,,
४. शिक्षा — ,,
५. छंदगुरु रवीन्द्रनाथ — प्रबोधचंद्र सेन
६. रवीन्द्रसंगीत — शांतिदेव घोष
७. आधुनिक बागलार कविता

उर्दू

१. कुल्याते मीर
२. कुल्याते गालिब
३. कुल्याते दाग

अंग्रेजी

1. A B C of Reading — Ezra Pound
2. Selected Poems — T. S. Eliot
3. Selected Prose — T. S. Eliot
4. Lamia — Keats
5. In Memorium — Tennyson

6. Collected Pooms — Shelley
7. A midsummer-night's dream — Shakespeare
8. The Poems of Spenser — by Smith and Selincourt.
9. English Gitanjali — W. B. yeats
10. Wordsworth — Collected by W.E. Williams
11. Practical Criticism — I. A. Richards
12. Speculations — T. E. Hulme
13. Poetry of this Age — J. M. Cohen
14. The Anatomy of Poetry — Marjorie Boulton
15. A hope for Poetry — C. D. Lewis
16. The trend of modern poetry — Geoffrey Bullough
17. The poetic pattern — Robin Skelon
18. Philosophy of Tagore — Radhakrishnan
19. A History of Indian Literature — Winternitz
20. On Education — Bertrand Russell
21. Education — Vivekanand
22. Child Development — *Hurlock*
23. Child Psychology — Jersild
24. The meaning of Culture — John Cowper Powys

पत्र-पत्रिकाएँ

१. Poetry
२. Encounter
३. आलोचना
४. परिषद्-पत्रिका (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्)
५. साप्ताहिक हिन्दुस्तान
६. धर्मयुग
७. कल्पना।
८. माध्यम